श्री गुरुगीता

श्री गुरुपादुकापञ्चकयुता

श्लोकानुवाद- भाषाभाष्यसहिता

भाष्यकारः सम्पादकश्च
राष्ट्रियपण्डित-श्रीव्रजवल्लभद्विवेदः
शैवभारती-शोधप्रतिष्ठान-निदेशकः

प्रकाशकः
शैवभारती-शोधप्रतिष्ठानम्
जंगमवाड़ीमठ, वाराणसी - २२१ ००१

शोधप्रकाशन-ग्रन्थमाला — १८

श्री गुरुगीता

श्री गुरुपादुकापञ्चकयुता

श्लोकानुवाद- भाषाभाष्यसहिता

भाष्यकारः सम्पादकश्च
राष्ट्रियपण्डित-श्रीव्रजवल्लभद्विवेदः
शैवभारती-शोधप्रतिष्ठान-निदेशकः

प्रकाशकः
शैवभारती-शोधप्रतिष्ठानम्
जंगमवाड़ीमठ, वाराणसी - २२१ ००१

Research Publications Series—18

ŚRĪ GURUGĪTĀ

Edited by

Pt. Vrajavallabha Dwivedi
Director, Shaiva Bharati Shodha Pratishthan

SHAIVA BHARATI SHODHA PRATISHTHANAM
D. 35/77, Jangamawadimath, Varanasi - 221 001

Published by :
SHAIVA BHARATI SHODHA PRATISHTHANAM
D. 35/77, Jangamawadimath
Varanasi - 221 001

ISBN 81-86768-33-5 (Hb)
ISBN 81-86768-34-3 (Pb)

First published 1999

Price : Rs. 200 (Hb)
Rs. 125 (Pb)

Laser Typeset at :
Shiva-Shakti Computer Process
Jangamawadimath, Varanasi - 221 001

Printed at :
Jauhari Printers
Mahamoorganj, Varanasi - 221 001

शैवभारती शोध प्रतिष्ठान के संस्थापक
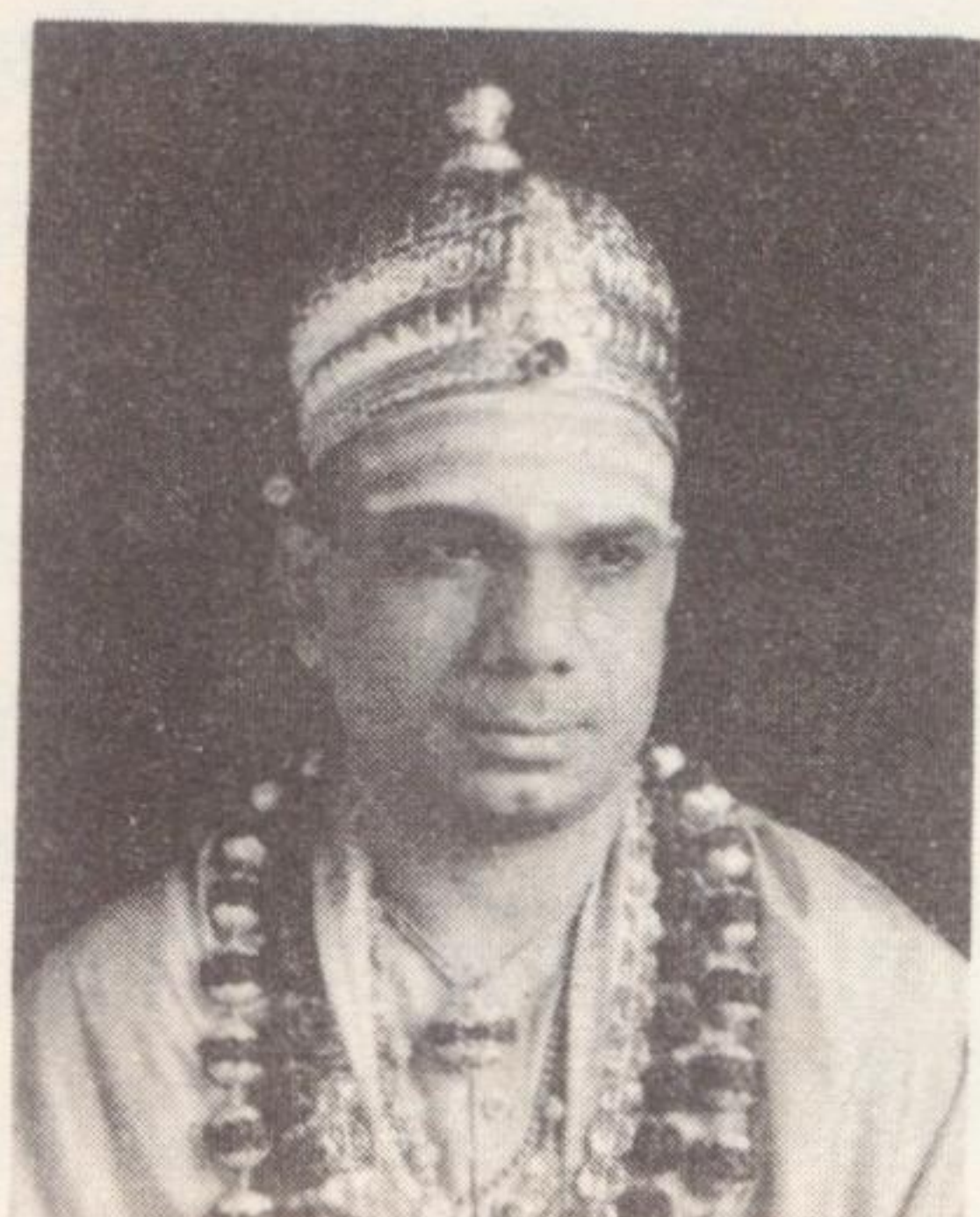
श्रीकाशी विश्वाराध्य ज्ञानसिंहासनाधीश्वर

श्री १००८ जगद्गुरु डॉ० चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामीजी का

शुभाशीर्वचन

भारतीय प्राचीन वाङ्मय में वेद, स्मृति, पुराण और आगम-तन्त्रशास्त्र का विशेष स्थान है। मीमांसा दर्शन के प्रथम अध्याय के तृतीय पाद में इनके प्रामाण्य पर विचार करते हुए वेदों की सर्वोपरि मान्यता स्थापित की गई है। सन्त तुलसीदास ने रामचरितमानस की रचना नाना पुराण, निगम (वेद), आगम, रामायण आदि के आधार पर की थी। वेदों के समान ही वेदाविरोधिनी स्मृतियों और पुराणों को भी मान्यता प्राप्त है। पुराण वेदार्थ के उपबृंहक माने जाते हैं। उसी तरह से पुराणों में आगमार्थ का भी उपबृंहण हुआ है। पुराणों की संख्या १८ मानी गई है। अनेक पुराणों में १८ उपपुराणों की भी नामावली मिलती है। १८ महापुराणों के साथ कुछ उपपुराणों का भी प्रकाशन हो चुका है। इनमें से स्कन्दपुराण, शिवपुराण, लिंगपुराण जैसे शैव पुराणों पर शैवागमों की स्पष्ट छाप मिलती है। अठारह महापुराणों में स्कन्दपुराण का अपना विशिष्ट स्थान है। इसके आजकल दो[१] संस्करण उपलब्ध हैं। इसकी शंकरसंहिता में वीरशैव धर्म-दर्शन का विशेष रूप से प्रतिपादन मिलता है।

इसी बृहत् पुराण के अन्तर्गत पुराणों के उपदेष्टा सूत ने देवी-ईश्वर संवाद के रूप में गुरुगीता का भी समावेश किया है। इसमें १८२ श्लोक हैं। ध्यान-श्लोक और

---

१. इनके परिचय के लिये मूल ग्रन्थ (पृ. १६) देखिये।

गुरुपादुकापंचक इसी के अंग हैं। गुरुदेव सिद्धपीठ, गणेशपुरी में इस गीता को विशेष आदर मिला है। वहीं से इस मूल ग्रन्थ का आकर्षक संस्करण भी प्रकाशित हुआ है। हमारे शैवभारती शोध-प्रतिष्ठान के निदेशक राष्ट्रियपण्डित श्री व्रजवल्लभ द्विवेदी जी ने आज से छ: वर्ष पहले इसको श्लोकानुवाद एवं भाषाभाष्य से अलंकृत किया था, किन्तु यह ग्रन्थ अब तक प्रकाशित न हो सका। निदेशक जी के आग्रह पर इसके महत्त्व को देखते हुए हमने इसके प्रकाशन की अनुमति दे दी और यह प्रसन्नता का विषय है कि यह अब प्रकाशित हो रहा है।

गुरुगीता गुरुतत्त्व का प्रकाशक एक महनीय ग्रन्थ है। इसके अनेक श्लोक जनमानस में प्रतिष्ठित हैं और प्राय: प्रत्येक भारतीय इनका प्रतिदिन चिन्तन एवं अनुसरण करता है। श्री द्विवेदी जी ने इसके मर्म को समझाने का स्तुत्य प्रयास किया है। इनके प्रयास की एक झलक परिशिष्ट में दी गई ग्रन्थ-ग्रन्थकार आदि की विस्तृत नामावली को देखने से मिल जाती है। श्री गुरु की त्रिविध पादुकाओं और त्रिविध चरणों के परिचय के साथ गुरु-तत्त्व के तुरीय स्वरूप का विवेचन यहाँ ग्रन्थ के प्रारंभ में ही किया गया है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनेक गंभीर विषय यहाँ सरल भाषा में विवेचित हैं। उदाहरण के रूप में विश्वमय एवं विश्वोत्तीर्ण तत्त्व का स्वरूप, सर्वं सर्वात्मकम्, कृत्यपंचक, शक्तिपात, षडध्वात्मक जगत् जैसे विषयों को देख सकते हैं। मन्त्र का विनियोग, मन्त्रार्थ-ज्ञान का महत्त्व, पंचप्रवाह शास्त्र, विभिन्न प्रणव, मन्त्रों के विभिन्न प्रकार, बीजमन्त्र, हंसमन्त्र आदि का स्वरूप, त्रिविध अथवा चतुर्विध उपाय जैसे अनेक विषयों का यहाँ सप्रमाण विवेचन किया गया है। गुरु-मण्डल का समग्र स्वरूप बताने वाला श्लोक गुरुगीता में ही नहीं, अन्य अनेक स्थलों पर भी उद्धृत मिलता है। विद्वान् भाष्यकार ने इस श्लोक के पारिभाषिक शब्दों का अर्थ स्पष्ट करते हुए जो विवरण दिया है, वह इनकी विद्वत्ता के अनुरूप स्तुत्य प्रयास है।

त्रिविध अथवा चतुर्विध उपायों के विवेचन के प्रसंग में यहाँ (पृ. २५) उपाय की यह परिभाषा दी गई है—"उपेये सति[१] ये हेयास्तानुपायान् प्रचक्षते"। नाव का यहाँ उदाहरण दिया जाता है। नदी को पार करने के लिये उपाय के रूप में नाव का सहारा अवश्य लिया जाता है, किन्तु पार हो जाने पर नाव को छोड़ दिया जाता है। ठीक वैसी ही स्थिति यज्ञ, तप आदि उपायों की भी बताई जाती है। हमारी समझ में यह वैदिक

---

१. ठीक इसी अभिप्राय के "नावार्थी, ग्रन्थमभ्यस्य, उल्काहस्त:" (१.१९-२१) इत्यादि श्लोक उत्तरगीता में भी मिलते हैं।

विधि-विधानों के बहुत अनुकूल नहीं है। नित्य और नैमित्तिक विधि-विधानों की तो बात दूर, काम्य कर्मों के प्रसंग में भी इस नियम को लागू करना कठिन है। वृष्टि की कामना के संकल्प के साथ कारीरी याग का अनुष्ठान किया जाता है। ऊपर के नियम के अनुसार तो बीच में ही वृष्टि हो जाने पर अनुष्ठान समाप्त हो जाना चाहिये, किन्तु ऐसा किया नहीं जाता। संकल्पित कारीरी याग को पूरा किया ही जाता है। शिवसूत्र (२.६) में गुरु को भी उपाय कहा गया है। उक्त वचन के अनुसार तो उपाय-स्वरूप गुरु का भी परित्याग कर देना पड़ेगा, किन्तु गुरुगीता जैसे शास्त्र इसकी अनुमति नहीं देते। जीवन्मुक्त पुरुष को भी लोकमर्यादा के पालन के लिये नित्य और नैमित्तिक कर्मों का अनुष्ठान जीवन-पर्यन्त करना ही पड़ता है। "नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्" (३.५) भगवद्गीता का यह वचन भी इस प्रसंग में स्मरणीय है।

जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी की ग्रन्थ-प्रकाशन की परम्परा बहुत पुरानी है। अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ यहाँ से प्रकाशित हो चुके हैं। इस कार्य को व्यवस्थित रूप देने के लिये सन् १९९३ में शैवभारती शोध प्रतिष्ठान की स्थापना की गई थी। तब से अब तक यहाँ से १७ ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। इसी सातत्य में सन् १९९९ ई. की महाशिवरात्रि के पावन पर्व पर सभाष्य सपरिशिष्ट गुरुगीता को यहाँ की शोधप्रकाशन ग्रन्थमाला के १८ वें पुष्प के रूप में प्रकाशित करते हुए हमें अपार हर्ष का अनुभव हो रहा है।

हम गुरुगीता के श्लोकानुवाद और भाषाभाष्य के लेखक एवं संपादक प्रो. व्रजवल्लभ द्विवेदी जी के स्वास्थ्य एवं दीर्घायुष्य की कामना करते हैं। पूरे ग्रन्थ पर और उसके भाषाभाष्य पर पण्डित श्री जनार्दन शास्त्री पाण्डेय जी की सूक्ष्म दृष्टि इसको परिमार्जित रूप दे सकी है। डॉ. जी. सी. केण्डदमठ, केन्द्रीय ग्रन्थालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी ने इस ग्रन्थ के सुन्दर मुद्रण की जिम्मेदारी निभाई है। हमारे गुरुकुल के शोध- छात्र श्री सिद्धराम देव हिप्परगी और श्री स्वरूपानन्द ने परिशिष्टों के निर्माण में पूरा सहयोग दिया है। ये दोनों क्रमश: श्रीमद्भगवद्गीता एवं सिद्धान्तशिखामणि पर तथा शैवागमों के विद्या एवं योगपाद एवं सांख्य-योग दर्शन पर तुलनात्मक अनुशीलन प्रस्तुत कर रहे हैं। शिव-शक्ति कम्प्यूटर प्रोसेस में कार्यरत श्री राजशेखर जी. हिरेमठ ने आकर्षक अक्षर-संयोजन किया है। इस शुभ अवसर पर हम इन सबको भूल नहीं सकते। इन सबकी मंगल-कामना के साथ हम इस आशीर्वचन को पूर्ण करते हैं।

महाशिवरात्रि (१४-२-९९) **इत्याशिषः**

***

प्रस्तावना

श्री गुरुपादुकापंचक और श्री गुरुगीता का श्लोकानुवाद एवं भाषाभाष्य के साथ प्रकाशन किया जा रहा है। गुरुदेव सिद्धपीठ, गणेशपुरी के स्वामी श्री गीतानन्द जी के कहने से यह कार्य आरंभ किया गया था। बाद में पता चला कि इसका अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित होगा। उस अनुवाद में अनेक त्रुटियाँ थीं। गुरुपादुकापंचक के भाषाभाष्य के अंग्रेजी अनुवाद को गुलबर्गा के डॉ. चन्द्रशेखर सी. कपाले के सहयोग से नमूने के रूप में ठीक करके भेजा गया, किन्तु लम्बा समय बीत जाने पर भी यह अनुवाद परिपूर्ण न हो सका। इस विलम्ब को देखते हुए हमने सुझाव दिया कि पहले मूल भाषाभाष्य ही प्रकाशित करा दिया जाय। एक न एक कारण से इसमें भी विलम्ब होता देख हमने शैवभारती शोध प्रतिष्ठान के संस्थापक, काशी के जंगमवाड़ी मठ के ज्ञानसिंहासनाधीश्वर श्री १००८ जगद्गुरु डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामी जी से इसके प्रकाशन का प्रस्ताव किया और उन्होंने इसे सहर्ष स्वीकार कर लिया। उसी सातत्य में यह ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है। अभी सूचना मिली है कि अब इसका अंग्रेजी अनुवाद भी अमेरिका से प्रकाशित होने जा रहा है।

सन् १९७८ में अन्वयार्था और रहस्यार्था नामक श्लोकानुवाद और भाषाभाष्य के साथ विज्ञानभैरव का प्रकाशन हुआ था। उसी पद्धति से यहाँ इनको प्रस्तुत किया गया है। अन्तर इतना ही है कि विज्ञानभैरव का संस्करण संस्कृत टीकाओं के आधार पर तैयार हुआ था, किन्तु गुरुगीता पर यह कार्य स्वतन्त्र रूप से किया गया है। संस्कृत भाष्यकारों की पद्धति से ही यहाँ प्रसंग-प्राप्त अनेक विषयों पर उपयुक्त स्थलों पर प्रकाश डाला गया है। उनकी पुन: यहाँ चर्चा करना अनावश्यक है। ग्रन्थ के अन्त में संलग्न विशेषपद-विवरणी की सहायता से इनको देखा जा सकता है। ग्रन्थग्रन्थकार-मतमतान्तर नामानुक्रमणी की सहायता से यह जाना जा सकता है कि इस भाषाभाष्य के निर्माण में किन-किन ग्रन्थों और ग्रन्थकारों की सहायता से प्रतिपाद्य विषयों को पुष्ट करते हुए विभिन्न मत-मतान्तरों की यहाँ तुलनात्मक समीक्षा की गई है।

गुरुदेव सिद्धपीठ, गणेशपुरी से प्रकाशित श्री गुरुगीता के संस्करण को ही यहाँ आधार रूप में स्वीकृत किया गया है। गुरुगीता के प्रतिपाद्य विषयों का संक्षिप्त परिचय पृ. ११-१२ पर देखा जा सकता है। भारतीय साहित्य में गुरु का अपना स्थान है। आगम-तन्त्रशास्त्र की सभी शाखाओं में समान रूप से गुरु की महिमा वर्णित है। इस प्रसंग में यहाँ (श्लो. १५१) शाक्त, सौर, गाणपत्य, वैष्णव और शैव मतों का उल्लेख मिलता है, जिनकी चर्चा प्रपंचसार, शारदातिलक जैसे ग्रन्थों में पंचायतन पूजा या स्मार्त सम्प्रदाय के रूप में हुई है। गुरुगीता को स्कन्दपुराण का अंश माना जाता है और यह भी स्पष्ट है कि पुराणों पर कृतान्तपंचक (सांख्य, योग, पांचरात्र, पाशुपत एवं वेदारण्यक) का स्पष्ट प्रभाव है। गुरुगीता के अनुशीलन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि स्कन्दपुराण और शिवपुराण के समान यह भी आगम-तन्त्र शास्त्र से पूरी तरह से अनुप्राणित है।

श्रीगुरु, श्रीनाथ और देशिक—ये तीनों शब्द यहाँ एक ही अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं, तो भी इनमें कुछ अन्तर भी दृष्टिगोचर होता है। गुरु-पद की व्युत्पत्ति यहाँ अनेक स्थानों पर बताई गई है। सामान्य रूप से सर्वत्र इसी पद से श्रीगुरु का बोध होता है। ''श्रीनाथादिगुरुत्रयम्'' (श्लो.५२) इत्यादि स्थलों पर श्रीनाथ शब्द से अपने साक्षात् गुरु का ग्रहण किया जाता है। इसका प्रयोग ५० और ७५ संख्या के श्लोकों में भी हुआ है। देशिक शब्द का प्रयोग दीक्षा-गुरु के लिये किया जाता है। ५४-५६ एवं ६५ संख्या के श्लोकों में इसे देखा जा सकता है। इस विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रीनाथ और देशिक शब्दों का प्रयोग सीमित अर्थ में होता है, जब कि गुरु शब्द गुरुपंक्ति (दिव्यौघ, सिद्धौघ, मानवौघ परम्परा) तथा यहाँ (श्लो.५२) वर्णित गुरु-मण्डल के लिये भी समान रूप से सर्वत्र प्रयुक्त होता है।

'उवाच' पद की समीक्षा यहाँ (पृ.१८-२१) पर्याप्त विस्तार से की गई है। इसका एक समाधान यह भी हो सकता है कि पार्वती-परमेश्वर आदि के संवाद के रूप में अभिव्यक्त दिव्यौघ, सिद्धौघ और मानवौघ गुरु-क्रम से प्राप्त ज्ञान, उसको लिखित या मौखिक रूप देने वाले सूत आदि तक पहुँचता है। यहाँ तक आते-आते बहुत समय बीत जाता है। अत: परोक्ष भूत के लिये प्रयुक्त होने वाले लिट् लकार का प्रयोग ऐसे स्थलों पर उचित ही माना जायगा।

दर्शन शास्त्र के ग्रन्थों में आठवें प्रमाण के रूप में ऐतिह्य का परिगणन कर उसका खण्डन करते हुए किसी अन्य प्रमाण में उसका समावेश किया जाता है। उससे ऐसा लगता है कि मानों पौराणिकों को आठ प्रमाण अभिप्रेत हों, किन्तु ऐसा है नहीं। प्रसंग-वश गुरुगीता के एक श्लोक में इसका स्पष्टीकरण मिलता है। यहाँ के ६५ वें श्लोक में श्रुति (आगम=शब्द), प्रत्यक्ष, ऐतिह्य और अनुमान नामक चार प्रमाणों का उल्लेख हुआ है। स्पष्ट है कि पौराणिकों के मत में ये चार प्रमाण ही स्वीकृत हैं।

आधुनिक इतिहासज्ञ ऐतिह्य को प्रमाण नहीं मानते। इसके लिये वे विचित्र से शब्द का प्रयोग करते हैं, किन्तु भारतीय परम्परा इसको पूरी मान्यता देती है। वह तब तक इस परम्परा को अमान्य नहीं करती, जब तक उसके विरोध में स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। २८ योगाचार्यों और उनके ११२ शिष्यों की परम्परा[1] का विश्लेषण करते हुए हम इस बात को स्पष्ट कर चुके हैं। भारतीय दार्शनिकों ने ऐतिह्य को स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में मान्यता भले ही न दी हो, किन्तु इसकी प्रतिपाद्य वस्तु का समावेश वे किसी प्रमाण में ही करते हैं। स्पष्ट है कि भारतीय दर्शन में ऐतिह्य की प्रतिपाद्य वस्तु को प्रामाणिक ही माना गया है।

गुरुगीता के ८१वें श्लोक में ज्ञान और विज्ञान की चर्चा आई है। अमरकोश (१.५.६) के अनुसार मोक्ष-विषयक बुद्धि को ज्ञान तथा विज्ञान में शिल्पशास्त्र आदि का समावेश होता है। ज्ञान (अध्यात्म) मनुष्य की आन्तर भावनाओं को टटोलता है और विज्ञान बाहरी चकाचौंध में भटकता रहता है। आज अध्यात्म (ज्ञान) और विज्ञान में समन्वय की बात उठने लगी है। हमने अन्यत्र[2] बताया है कि तन्त्रशास्त्र ने अध्यात्म को बाहर लाने की चेष्टा की है, मानवमात्र को अध्यात्म का अधिकारी माना है। विज्ञान को अध्यात्म की ओर आकृष्ट करने का काम भी वही कर सकता है। विज्ञान को भी चित्त की प्रभास्वरता के दर्शन हों, यह आवश्यक है। अन्यथा चित्त की मलिनता से जुड़ा यह विज्ञान सब कुछ भस्म कर देगा।

---

१. द्रष्टव्य — संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, एकादश खण्ड, पृ. १०९; उत्तरप्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ, सन् १९९७

२. गुह्यादि-अष्टसिद्धिसंग्रह, उपोद्घात, पृ. ५३-५४ देखिये। दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थमाला, केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी सन् १९८७

पिण्ड, पद, रूप और रूपातीत पदों की चर्चा यहाँ के ११९-१२२ श्लोकों में मिलती है। इनके विषय में भाषाभाष्य (पृ. ६७) में बताया जा चुका है कि १२१-१२२ संख्या के श्लोक योगिनीहृदयदीपिका (पृ. ५९, ३२२) में स्वल्प पाठभेद के साथ उपलब्ध हैं। यहाँ गुरु-ध्यान के प्रसंग में इनकी चर्चा आई है। आचार्य शुभचन्द्र कृत जैन योगशास्त्र के ग्रन्थ ज्ञानार्णव के ३४-३७ प्रकरणों में ध्यान के रूप में ही इनका वर्णन मिलता है। मालिनीविजयतन्त्र, तन्त्रालोक जैसे ग्रन्थों में इनका विस्तार से वर्णन हुआ है। मूलत: ये शब्द कौल योग में प्रयुक्त हुए हैं। शीघ्र प्रकाशित होने वाले ग्रन्थ "तन्त्रागमीय ज्ञानकोश" के शाक्त-तन्त्र प्रकरण में इस सबका विवरण देखा जा सकता है। पृ. ६९ की टिप्पणी में शाक्त दर्शन की परिभाषाओं की चर्चा की गई है। उन सबका अब इसी ग्रन्थ में समावेश कर दिया गया है।

प्रसंगवश यहाँ (पृ. ७४,७८,७९) भारतीय संस्कृति के संबन्ध में कुछ विचार प्रस्तुत किये गये हैं। इस तरह की भारतीय संस्कृति की वर्तमान समस्याओं पर हमने अपने ग्रन्थ "भारतीय संस्कृति के नये आयाम" में पर्याप्त विचार किया है। उसमें हमने बताया है कि भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री पं. जवाहरलाल नेहरु ने बौद्ध धर्म के माध्यम से दक्षिण-पूर्व एशिया से, इस्लाम के आधार पर पश्चिम एशिया से और अपनी अधकचरी भारतीय संस्कृति के माध्यम से शेष विश्व से संबन्ध बनाने का प्रयत्न किया था, किन्तु इसमें वे सफल नहीं हो सके। आज भी भारतीय प्रशासन उसी गलती को दुहराने जा रहा है।

गुरुगीता का प्रतिपाद्य गुरुतत्त्व हमें वह शक्ति प्रदान करे कि हम भारतीय संस्कृति के परिनिष्ठित स्वरूप को विश्व के समक्ष प्रस्तुत कर सकें, इसके आध्यात्मिक अवदानों को विश्व-मानवता के सामने उजागर कर सकें। इसी प्रार्थना के साथ हम अपने इस वक्तव्य को पूरा कर रहे हैं।।

कार्तिकपूर्णिमा, संवत् २०५५
शैवभारती शोध प्रतिष्ठान
जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी।

विद्वद्वशंवद
व्रजवल्लभ द्विवेदी
निदेशक

❋❋❋

विषय सूची

परिशिष्ट

❋❋❋

श्री गुरुपादुकापञ्चकम्

नमो गुरुभ्यो गुरुपादुकाभ्यो
नमः परेभ्यः परपादुकाभ्यः ।
आचार्यसिद्धेश्वरपादुकाभ्यो
नमो नमः श्रीगुरुपादुकाभ्यः ।।१।।

श्री गुरुगीता के प्रारंभ में स्थित "श्री गुरुपादुकापंचकम्" का यह पहला श्लोक है। "सरपेन्ट पावर" नामक ग्रन्थ के अन्त में षट्चक्रनिरूपण के साथ शिवोक्त "पादुकापंचकम्" भी मिलता है। यह उससे भिन्न है। उसका विवरण अभी हाल में चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, वाराणसी से प्रकाशित षट्चक्रनिरूपण के श्री भारतभूषण कृत हिन्दी अनुवाद में विस्तार से दे दिया गया है। इन दोनों की प्रतिपाद्य विषयवस्तु भिन्न है। हम यहाँ प्रस्तुत पादुकापंचक का विवरण देने जा रहे हैं।

यहाँ विशेष ध्यान देने की बात यह है कि गुरुपादुका पद का प्रथम श्लोक में बहुवचन में तथा अन्य चार श्लोकों में द्विवचन में प्रयोग है। उक्त पादुकापंचक में भी समाहार में द्वन्द्व करके एकवचन और द्विवचन में यह पद प्रयुक्त है। ऐसा क्यों है ? इसे पहले हमें समझ लेना होगा। महार्थमंजरीकार[१] महेश्वरानन्द ने अपनी स्वोपज्ञ व्याख्या परिमल (पृ. ४-५) में पादुका पद की व्याख्या चरण पद से की है। शिवसूत्र (२.६) में गुरु को उपाय बताया गया है। उस गुरु के दो चरण हैं — ज्ञानलक्षण और क्रियालक्षण स्वातन्त्र्य, अर्थात् शिष्य की ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति को उचित समय पर जगाने की सामर्थ्य। व्याकरण के नियम के अनुसार गत्यर्थक जितने भी धातु हैं, उनका ज्ञान, गमन और प्रापण यह त्रिविध अर्थ होता है। यहाँ चरण पद गत्यर्थक चर धातु से बना है, अतः इसका अर्थ होगा, जिन गुरुचरणों की सहायता से शिष्य सब जगह पहुँच सकता है, सब प्राप्त कर सकता है और सब जान सकता है। अन्ततः साधक गुरु के द्वारा जगाई गई ज्ञान और क्रिया शक्ति की सहायता से इस सारे विश्व को निगल सकता है, अपने भीतर समेट लेता है। अपने इस अर्थ के समर्थन में उन्होंने "कुब्जिकामत" के कुछ श्लोकों को उद्धृत किया है। उनका भाव यह है —

---

१. सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, प्रथम संस्करण, सन् १९७८, पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी द्वारा संपादित।

गुरु की इच्छा और ज्ञान शक्ति ही इसके दो चरण हैं। तृतीय चरण है स्वयं गुरु, साक्षात् भगवान् शिव। गुरु के इस तृतीय चरण के स्वरूप का भी वर्णन वहाँ कुब्जिकामत की सहायता से ही किया गया है। इसके साथ ही गुरु के तुरीय (चतुर्थ) स्वरूप का भी वर्णन कर वहाँ बताया गया है कि लौकिक व्यवहार तो सकल और निष्कल इन दो चरणों से ही सम्पन्न होता है। स्पष्ट है कि यहाँ 'पादुका' पद का द्विवचन में प्रयोग लौकिक व्यवहार की सिद्धि के लिये तथा बहुवचन का तृतीय एवं तुरीय (चतुर्थ) स्वरूपों का बोध कराने के लिये किया गया है।

त्रिविध पादुका का वर्णन योगी अमृतानन्द ने अपने चिद्विलासस्तव[1] के मंगल श्लोक में किया है और इस श्लोक को योगिनीहृदय की अपनी महनीय व्याख्या दीपिका[2] में अनेक स्थलों पर उद्धृत किया है। "पादुकाभावनापरैः" (पृ.२१०) पद का अर्थ करते हुए वे कहते हैं —

स्वप्रकाशशिवमूर्तिरेकिका तद्विमर्शतनुरेकिका तयोः ।
सामरस्यवपुरिष्यते परा पादुका परशिवात्मनो गुरोः ।।

अर्थात् एक पादुका स्वयं प्रकाशस्वरूप शिवमय है, दूसरी पादुका उनका विमर्शशक्तिमय शरीर है। इन दोनों के सामरस्यमय शरीर से तीसरी परा पादुका बनती है, जो परम शिवमय गुरु का स्वरूप है। इसका अभिप्राय यह है कि गुरु की इन त्रिविध पादुकाओं का सेवन करने वाला अपने गुरु के प्रसाद से, प्रथमतः शिव और शक्ति के प्रसाद से समस्त लौकिक व्यवहार को और उससे बाहर निकलने पर इनके सामरस्यमय परम तत्त्व को भलीभाँति समझ सकता है, क्योंकि गुरु की पादुका में यह स्वरूप स्वाभाविक रूप से छिपा हुआ है। इस तरह से यहाँ प्रकाश, विमर्श और इनकी समष्टिरूपिणी तीन पादुकाओं की भावना विहित है। स्पष्ट है कि परमार्थतः गुरु की तीन पादुकाएँ हैं, अतः प्रथम श्लोक में बहुवचन का प्रयोग कर चतुर्विध चरणों का अथवा त्रिविध पादुकाओं का नमन किया गया है। सामान्य शिष्य प्रारंभ में इस पारमार्थिक स्वरूप को जान नहीं सकता, अतः एक बार इस ओर इंगित कर देने के बाद अगले श्लोकों में लोकव्यवहार में समझ सकने लायक दो ही पादुकाओं को नमन किया गया है। इतना तो स्पष्ट ही है कि महार्थमंजरी की परिमल व्याख्या में उद्धृत कुब्जिकामत में प्रयुक्त चरण शब्द पादुका का ही वाचक है।

---

१. सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, सन् १९८४, पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी द्वारा संपादित नित्याषोडशिकार्णव के परिशिष्ट भाग (पृ. ३२२-३२८) में प्रकाशित।

२. मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली-वाराणसी, प्रथम संस्करण, सन् १९८८, भाषानुवाद सहित योगिनीहृदय एवं दीपिका व्याख्या, (पृ. २१०, २२५, ३८१) द्रष्टव्य।

इस भूमिका के साथ अब हमें श्लोक के अर्थ को समझ लेना है। ॐ यह प्रणवाक्षर है। वैदिक और तान्त्रिक इन[1] द्विविध श्रुतियों में तथा अन्य पूरे भारतीय वाङ्मय में इसके स्वरूप और अर्थ पर पर्याप्त विचार किया गया है।

हम अपनी गुरुपरम्परा को प्रणाम करते हैं, उनके चरणों में साष्टांग[2] प्रणाम निवेदन करते हैं। हम उस परम तत्त्वस्वरूप गुरु की त्रिविध अथवा चतुर्विध पादुकाओं का नमन करते हैं। आचार्यगण, सिद्धगण और सबके[3] गुरु ईश्वर की पादुका को नमन करते हैं और पुनः पुनः श्री गुरुपादुका को नमन करते हैं।।१।।

ऐँकारह्लींकाररहस्ययुक्त-
श्रींकारगूढार्थमहाविभूत्या।
ॐकारमर्मप्रतिपादिनीभ्यां
नमो नमः श्रीगुरुपादुकाभ्याम् ।।२।।

लौकिक और लोकोत्तर गुरुपादुकाओं का नमन करने के बाद अब व्यवहार जगत् में उपस्थित गुरुपादुकाओं का नमन करते हुए प्रस्तुत श्लोक में ऐँकार, ह्लींकार, श्रींकार और ॐकार — इन तान्त्रिक और वैदिक बीज-मन्त्रों प्रणवाक्षरों का उल्लेख किया गया है। विज्ञानभैरव[4] के "प्रणवादिसमुच्चारात्" (श्लो. ३९) इस श्लोक में ॐकार को वेदप्रणव, हूँकार को शिवप्रणव और ह्लींकार को शक्तिप्रणव बताया गया है, अर्थात् वेद में ॐकार का

---

१. "श्रुतिर्द्विविधा — वैदिकी तान्त्रिकी च" यह वचन मनुस्मृति की कुल्लूक भट्ट की टीका में मिलता है (२.१)। श्रीमद्भागवत और देवीभागवत में भी द्विविध श्रुतियों का उल्लेख है।

२. अष्टांग प्रणाम का लक्षण पांचरात्र आगम की सात्वतसंहिता में इस प्रकार दिया है —

मनोबुद्ध्यभिमानेन सह न्यस्य धरातले ।
कूर्मवच्चतुरः पादान् शिरस्तत्रैव पञ्चमम् ।। (६.१८७-१८८)

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, प्रथम संस्करण, सन् १९८२, पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी द्वारा सम्पादित।

३. यहाँ गुरुपंक्ति में पूजनीय दिव्यौघ, सिद्धौघ और मानवौघ गुरु-परम्परा का उल्लेख है। विशेष जानकारी के लिये ऊपर निर्दिष्ट नित्याषोडशिकार्णव का उपोद्घात (पृ. ९९-१०१) देखिये। आचार्यगण की मानवौघ, सिद्धगण की सिद्धौघ और ईश्वरगण की दिव्यौघ में गणना की जायगी। "स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्" (१.२६) इस सूत्र में भगवान् पतंजलि ने ईश्वर का लक्षण दिया है।

४. मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली-वाराणसी, द्वितीय संस्करण, सन् १९८४ द्रष्टव्य। भाषान्तरकार एवं संपादक — पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी।

जो माहात्म्य है, वही माहात्म्य तन्त्रागम साहित्य में इन बीज-मन्त्रों का है। तन्त्रशास्त्र में मन्त्रों के पिण्ड, कूट, कर्तरी, बीज, मन्त्र, माला, धारिणी[१] आदि अनेक भेद बताये गये हैं। उनमें बीज-मन्त्रों का विशेष माहात्म्य है। ऊपर इनको प्रणव कहा गया है। नेत्रतन्त्र (१६.७) में वर्णित इन पदों की व्याख्या करते हुए क्षेमराज ने बीज-मन्त्रों को परा वाक् का, पिण्ड-मन्त्रों को पश्यन्ती वाक् का, माला-मन्त्रों को मध्यमा वाक् का तथा कूट-मन्त्रों को पश्यन्ती और मध्यमा वाक् का प्रतिनिधि बताया है। शारदातिलक आदि ग्रन्थों में मन्त्र के स्वरूप आदि पर विस्तार से विचार किया है। डॉ० शिवशंकर अवस्थी[२] के ग्रन्थ "मन्त्र और मातृकाओं का रहस्य" में इस विषय को विस्तार से देखा जा सकता है। मन्त्र, मण्डल, यन्त्र, चक्र आदि को तन्त्रशास्त्र में इष्टदेवता से अभिन्न माना गया है। मन्त्रजप से, मण्डल एवं चक्र में इष्टदेवता का आवाहन कर यजन करने से अथवा यन्त्र को धारण करने से उसमें तत्तत् देवता अभिव्यक्त हो हमारी रक्षा करते हैं। मन्त्राराधन से देवता किस प्रकार अभिव्यक्त होते हैं, इसका भी निरूपण नित्याषोडशिकार्णव (पृ. २५२) तन्त्र के टीकाकार शिवानन्द ने उत्तरषट्क के प्रमाण से जिस तरह से किया है, वह देखने योग्य है। योगिनीहृदय के द्वितीय मन्त्रसंकेत प्रकरण में छः प्रकार के मन्त्रार्थ का निरूपण करते समय बताया है कि मन्त्र के जप से अथवा चक्र आदि में देवता के स्वरूप की भावना करने से शिष्य, गुरु और देवता में भी अभेद की, अद्वयभाव की अभिव्यक्ति हो जाती है (२.६७-६८)।

अनेक गूढार्थों, रहस्यार्थों से भरे, महान् विभूतियों के दाता, एँकार[३] और ह्रींकार के साथ श्रींकार — इन सब बीज-मन्त्रों के और ॐकार के मर्म को समझाने वाली दोनों गुरुपादुकाओं को मैं प्रणाम करता हूँ।।२।।

---

१. धारिणी-मन्त्रों का विस्तार बौद्ध महायान और मन्त्रयान के ग्रन्थों में विशेष रूप से मिलता है।

२. "मन्त्र और मातृकाओं का रहस्य", चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, सन् १९८६.

३. दुर्गासप्तशती में ऐं ह्रीं क्लीं क्रमशः महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती देवियों के बीज-मन्त्र हैं। अन्यत्र ऐं वाग्भव बीज कहा जाता है। ह्रींकार की हृल्लेखा में ही कामकला बीज की स्थिति मानी जाती है। श्रीं लक्ष्मी का बीज-मन्त्र है। एक ही बीज-मन्त्र कभी-कभी अपने-अपने सम्प्रदाय के अनुसार विभिन्न देवताओं की आराधना में प्रयुक्त होता है। इसके लिये "तन्त्राभिधान" नामक ग्रन्थ देखा जा सकता है। यह ग्रन्थ आगमानुसन्धान समिति, कलकत्ता से सन् १९३७ में प्रकाशित हुआ था।

होत्राग्निहोत्राग्निहविष्यहोतृ-
होमादिसर्वाकृतिभासमानम् ।
यद् ब्रह्म तद्बोधवितारिणीभ्यां
नमो नमः श्रीगुरुपादुकाभ्याम् ।।३।।

वैदिक वाङ्मय में सात-सात प्रकार के पाकसंस्थ, हवि:संस्थ और सोमसंस्थ यज्ञों का विधान बताया गया है। आगमों[1] में वर्णित ४८ संस्कारों में भी इनका समावेश है। इनमें अग्निहोत्र का विशेष महत्त्व है। ''जातपुत्रः कृष्णकेशोऽग्नीनादधीत'' अर्थात् पुत्रवान् और काले केशों वाला द्विज अग्नियों का आधान करे, इस शास्त्रवचन के अनुसार अग्नियों का आधान कर लेने के बाद ही उसको सम्पूर्ण वैदिक कर्मों के अनुष्ठान का अधिकार मिलता है। उसको जीवनपर्यन्त दर्श और पूर्णमास याग का अनुष्ठान करना पड़ता है, जो कि क्रमशः प्रत्येक मास की अमावस्या और पूर्णिमा तिथि को सम्पन्न होते हैं। इसी के लिये दक्षिणाग्नि, गार्हपत्य और आहवनीय — इन तीन प्रधान अग्नियों के अतिरिक्त सभ्य और आवसथ्य अग्नियों का भी परिग्रह किया जाता है। वैदिक याग में हवि के रूप में प्रधान रूप से दूध का ग्रहण किया जाता है। कात्यायन श्रौतसूत्र (७.८.८) ने दूध की प्रतिधुक्, शृत, शर, दधि, मस्तु, आतंचन, नवनीत, घृत, आमिक्षा और वाजिन आदि अवस्थाओं का बड़ा सूक्ष्म विवरण प्रस्तुत किया है। इसी तरह से यजमान के अतिरिक्त होता, उद्‌गाता, अध्वर्यु और ब्रह्मा — ये चार प्रकार के ऋत्विक् चारों वेदों के प्रतिनिधि के रूप में परिगृहीत होते हैं। इनमें से भी प्रत्येक के चार-चार भेद होकर ऋत्विजों की संख्या १६ हो जाती है। ये सब यज्ञ का अनुष्ठान करते समय यजमान की सहायता करते हैं। इन सबका विशेष विवरण यज्ञीय[2] पद्धति-ग्रन्थों में देखा जा सकता है।

धर्मशास्त्रीय निबन्ध-ग्रन्थों में लगभग ४० प्रकार की अग्नियों का और उनसे सम्पन्न होने वाले विविध धार्मिक और लौकिक कृत्यों का विस्तार से वर्णन मिलता है। विधानपारिजात के प्रमाण से वर्णित इनका स्वरूप स्वामी करपात्री जी महाराज के शुक्ल यजुर्वेद के वेदार्थपारिजात नामक भाष्य (३.८) में देखा जा सकता है। ऊपर वर्णित दुग्ध की प्रतिधुक् आदि अवस्थाओं का विशेष विवरण भी उसी भाष्य (४.२६) में देखना चाहिये। प्रस्तुत श्लोक में इन्हीं सब वैदिक क्रियाकलापों को प्रकट किया गया है।

---

१. मृगेन्द्रागम क्रियापाद (८.१५९-१६१) और उसकी भट्ट नारायणकण्ठ कृत टीका द्रष्टव्य।

२. डॉ० मनोहरलाल द्विवेदी के ग्रन्थ ''कात्यायन यज्ञपद्धति विमर्श'' में इस विषय का विस्तार देखा जा सकता है। हिन्दी भाषा में लिखा गया यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, दिल्ली से सन् १९८८ में प्रकाशित हुआ है।

सभी प्रकार के यज्ञ-याग आदि, विशेष कर अग्निहोत्र नामक याग, सभी प्रकार की यज्ञीय अग्नियाँ[१], आहुति के रूप में दिये जाने वाले घृत आदि पदार्थ, हवन करने वाले यजमान के सहायक ऋत्विक् गण और होम — इन सब आकृतियों में जो भासित हो रहा है, वह ब्रह्म ही है। इस ब्रह्म का बोध कराने वाली गुरुपादुकाओं को मैं प्रणाम करता हूँ।।३।।

कामारिसर्पव्रजगारुडाभ्यां
विवेकवैराग्यनिधिप्रदाभ्याम् ।
बोधप्रदाभ्यां द्रुतमोक्षदाभ्यां
नमो नमः श्रीगुरुपादुकाभ्याम् ।।४।।

शास्त्रों में काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर का षड्रिपु के रूप में वर्णन मिलता है, अर्थात् ये दोष मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति में बाधक हैं, अतः उन्हें अपना शत्रु समझना चाहिये, इन दोषों से छुटकारा पाने के लिये मनुष्य को निरन्तर प्रयत्न करते रहना चाहिये। प्रस्तुत श्लोक में इनको सर्प की उपमा दी गई है। श्रीगुरु की दोनों पादुकाएँ इन काम आदि सर्पों के झुंड के लिये पक्षिराज गरुड़ के समान हैं, अर्थात् भगवान् विष्णु का वाहन गरुड़ जैसे सर्पों के झुंड को मार भगाता है, उसी तरह ये गुरुपादुकाएँ काम आदि षड्वर्गीय शत्रुओं का नाश कर डालती हैं। भगवान् शिव के पाँच मुखों से पंचविध शास्त्रों की सृष्टि होती है। उनके ऊर्ध्व ईशान मुख से २८ शैवागमों की, पूर्व मुख तत्पुरुष से गारुड़ तन्त्रों की, दक्षिण अघोर मुख से भैरव तन्त्रों की, पश्चिम सद्योजात मुख से भूत तन्त्रों की और उत्तर मुख वामदेव से वाम तन्त्रों की सृष्टि शास्त्रों में वर्णित है। इनमें से गारुड़ तन्त्रों में केवल सर्पविष की ही नहीं, नानाविध स्थावर-जंगम विषों की चिकित्सा का विधान है। इसी तरह से भूत तन्त्रों में भूत, प्रेत, पिशाच आदि की बाधा से उत्पन्न नाना प्रकार के मानसिक रोगों की चिकित्सा बताई गई है। प्रस्तुत श्लोक का गारुड़ शब्द इस शास्त्र के ज्ञाता गारुड़िक (विषवैद्य) का भी निर्देश करता है।

काम आदि षड्रिपुओं के नाश के बाद मोक्ष की प्राप्ति के लिये विवेक और वैराग्य की प्राप्ति भी आवश्यक मानी गई है। योगसूत्रकार पतंजलि ने बताया है कि समाधि के लिये चित्त की वृत्तियों का निरोध आवश्यक है और चित्त की वृत्तियों का यह निरोध विवेक-बुद्धि के साथ निरन्तर अभ्यास करने से और संसार के प्रति वैराग्य-भाव के उत्पन्न होने पर ही संभव हो सकता है। श्रीगुरु की पादुकाएँ विवेक और वैराग्य के खजाने को खोल देती हैं। ये गुरुपादुकाएँ बोध को भी देने वाली हैं।

---

१. "ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्। ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना।।" (४.२४) इत्यादि श्लोकों में श्रीमद्भगवद्गीता में भी प्रायः यही विषय प्रतिपादित है।

अष्टप्रकरण[1] के नाम से प्रकाशित शैव सिद्धान्त के ग्रन्थों में बोध के दो प्रकार बताये गये हैं — एक अध्यवसायात्मक और दूसरा अनध्यवसायात्मक। इनमें से अध्यवसायात्मक बोध अन्तःकरण की वृत्ति है। यह शिवभाव, महेश्वरता को प्रकाशित करने में असमर्थ है। अनध्यवसायात्मक बोध सदा ग्राहक रूप में ही प्रकाशित होता है। यह आत्मा का स्वभाव है। इसी की सहायता से साधक योगी शिवभाव का साक्षात्कार करता है। गुरुपादुका की कृपा से ही यह ग्राहकस्वभाव बोध शिष्य के हृदय में स्फुरित होता है और इसके कारण तत्काल मोक्ष की प्राप्ति का मार्ग खुल जाता है। ''द्रुतमोक्षदाभ्याम्'' पद से यही भाव अभिप्रेत है।

काम आदि सर्पों के झुण्ड के लिये गरुड़ पक्षी के समान, विवेक और वैराग्य रूपी खजाने को खोल देने वाली, बोध को देने वाली और शीघ्र ही मोक्ष को दिलाने वाली गुरुपादुकाओं को मैं प्रणाम करता हूँ।।४।।

अनन्तसंसारसमुद्रतार-
नौकायिताभ्यां स्थिरभक्तिदाभ्याम् ।
जाड्याब्धिसंशोषणवाडवाभ्यां
नमो नमः श्रीगुरुपादुकाभ्याम् ।।५।।

मुण्डक उपनिषद् के ''प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः'' (१.२.७) इस वचन में वैदिक यज्ञों को कमजोर नाव बताया गया है, क्योंकि संसार-सागर के पार स्थित मोक्षपथ तक पहुँचाने की सामर्थ्य इनमें नहीं है। इसी उपनिषद् में आगे बताया गया है — ''परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन। तद्विज्ञानार्थं गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।।'' (१.२.१२)। अर्थात् यज्ञीय कर्मों का अनुष्ठान करने पर प्राप्त हुए सभी लोकों की परीक्षा कर लेने के बाद जिज्ञासु व्यक्ति को इनके प्रति वैराग्य हो गया कि अकृत (मोक्ष) इन यज्ञीय कर्मों के अनुष्ठान से प्राप्त नहीं हो सकता, अतः मोक्षपथ की जिज्ञासा वाले व्यक्ति को ब्रह्मनिष्ठ विद्वद्वरेण्य गुरु के पास जाकर उसकी सर्वविध सेवा में लग जाना चाहिये।

स्पष्ट है कि मोक्ष की जिज्ञासा वाले व्यक्ति के लिये उपनिषद् भी गुरु की शरण में जाने का ही उपदेश करती है। गुरु की उपासना से शिष्य की बुद्धिगत सारी जड़ता उसी प्रकार नष्ट हो जाती है, जैसे कि वडवानल (समुद्र में प्रज्वलित होने वाली अग्नि) समुद्र के पानी को सुखा देती है। बुद्धि की इस जड़ता के नष्ट होने से उसकी वह अनध्यवसायात्मक

---

१. सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, प्रथम संस्करण, सन् १९८८, पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी द्वारा सम्पादित, पृ. ११८, २१४ द्रष्टव्य।

बोधशक्ति जाग उठती है, जिसका कि पूर्व श्लोक में वर्णन किया गया है। इस बोधशक्ति के जाग जाने पर सारी जड़ता, बुद्धि की मलिनता दूर हो जाती है।

अपार संसार रूपी समुद्र के पार पहुँचाने के लिये जो नौका (नाव) का काम करती हैं, स्थिर भक्ति को देने वाली हैं और जड़ता रूपी सागर को सुखा देने के लिये जो वडवानल के समान हैं, ऐसी गुरु की दोनों पादुकाओं को मैं प्रणाम करता हूँ।।५।।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

भारतीय संस्कृति सर्वत्र शान्ति का, सुख-चैन का साम्राज्य देखना चाहती है। वह केवल इस संसार में ही नहीं, तीनों लोकों में शान्ति चाहती है। अत: यहाँ ही नहीं, अन्यत्र भी प्रत्येक अनुष्ठान के अन्त में प्रणव के साथ शान्ति शब्द का तीन बार उच्चारण किया जाता है।।

***

श्री गुरुगीता

ॐ अस्य श्रीगुरुगीतास्तोत्रमन्त्रस्य भगवान् सदाशिव ऋषिः, नानाविधानि छन्दांसि, श्रीगुरुपरमात्मा देवता, हं बीजम्, सः शक्तिः, क्रों कीलकम्, श्रीगुरुप्रसादसिद्ध्यर्थे जपे विनियोगः, (अथवा) मम चतुर्विधपुरुषार्थसिद्ध्यर्थे जपे विनियोगः[१]।

इस श्रीगुरुगीतास्तोत्र रूपी मन्त्र के भगवान् सदाशिव ऋषि हैं, इस स्तोत्र रूपी मन्त्र में अनेक छन्द हैं, श्रीगुरु परमात्मा ही इसके देवता हैं। हं इसका बीज–मन्त्र है, सः शक्ति और क्रों इसका कीलक है। गुरु का प्रसाद प्राप्त हो अथवा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नामक चतुर्विध पुरुषार्थ की प्राप्ति हो, इसके लिये इस स्तोत्र रूपी मन्त्र का पाठ किया जाता है।

गुरुगीता के प्रारंभ में गुरुपादुका के माहात्म्य को बताने वाले श्री गुरुपादुका की स्तुति में विनियुक्त पाँच श्लोकों वाले इस स्तोत्र को इस अभिप्राय से रखा गया है कि इन श्लोकों के द्वारा गुरुपादुका के ध्यान से निर्मल-चित्त साधक गुरुगीता के पाठ में प्रवृत्त हो। यह पूरी गुरुगीता एक प्रकार का मन्त्र है। मन्त्र का जप किया जाता है। यह जप तीन प्रकार का होता है — वाचिक, उपांशु और मानस। नित्याषोडशिकार्णव की टीका ऋजुविमर्शिनी (पृ. २६८-२६९) और अर्थरत्नावली (पृ. २६८-२६९) में तथा अन्यत्र भी अनेक स्थलों पर इनके लक्षण दिये गये हैं। मनुस्मृति विधि-यज्ञ की अपेक्षा जप-यज्ञ को दस गुना श्रेष्ठ बताती है। जप-यज्ञ से यहाँ वाचिक जप का ग्रहण किया गया है। इस जप को दूसरा भी सुन सकता है। इस वाचिक जप की अपेक्षा उपांशु जप दस गुना श्रेष्ठ है। उपांशु जप केवल अपने कानों तक ही पहुँच सकता है, दूसरा इसको सुन नहीं सकता। इस उपांशु जप से भी मानस जप दस गुना श्रेष्ठ है। इस प्रकार विधि-यज्ञ से वाचिक जप दस गुना, उपांशु जप सौ गुना और मानस जप हजार गुना श्रेष्ठ है। मनुस्मृति का वह श्लोक इस प्रकार है —

> विधियज्ञाज्जपो यज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः ।
> उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः ।। (२.८५)

---

१. विनियोग के बाद ही ध्यान किया जाता है, अतः यहाँ दोनों प्रकार के विनियोगों को एक साथ दे दिया गया है।

अर्थरत्नावलीकार ने सिद्धनाथपाद की उक्ति बताकर मानस जप का लक्षण इस प्रकार बताया है —

उच्चारो मनसा स्थानध्यानवर्णप्रकल्पनात् ।
मानसो जप इत्युक्तो योगमार्गप्रवर्तकः ।।
(नि० षो०, पृ. २६८)

अर्थात् मन्त्र के स्थान, ध्यान और वर्ण की कल्पना के साथ जो उसका मन में उच्चारण किया जाता है, उसे मानस जप कहते हैं। यह साधक की योगमार्ग में प्रवृत्ति का कारण बनता है। मालिनीविजय तन्त्र में मुक्ति के आणव, शाक्त और शाम्भव नामक तीन उपायों का वर्णन कर उनका लक्षण बताया गया है। आणव उपाय के स्वरूप को बताते हुए वहाँ (२.२१) कहा गया है कि उच्चार, करण, ध्यान, वर्ण और स्थान की कल्पना से जो समावेश (समाधि) होता है, उसे आणव उपाय कहते हैं। ऊपर के सिद्धनाथपाद के श्लोक में भी उच्चार, स्थान, ध्यान और वर्ण शब्द आये हैं। यहाँ उनके अतिरिक्त करण भी परिगृहीत है। इस विषय को विज्ञानभैरव के उपोद्घात में हमने स्पष्ट किया है (पृ. १५-१६)। स्पष्ट है कि जप का यहाँ आणव उपाय में परिगणन किया गया है। इस प्रकार आणव उपाय में वर्णित विविध विधियों से इस मानस जप को सम्पन्न किया जाता है।

लोक में मन्त्र का जप तथा स्तोत्र का पाठ ही प्रचलित है, किन्तु सम्पूर्ण स्तोत्र को भी एक ही मन्त्र मानकर विविध ऐहिक और पारलौकिक सिद्धियों की प्राप्ति के लिये उसका मन्त्र की तरह ही पुरश्चरण आदि किया जाता है। आदित्यहृदय स्तोत्र, रामरक्षा स्तोत्र आदि को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है, जिनका कि शिरोवेदना आदि विविध रोगों के निवारणार्थ उपयोग किया जाता है।

इसी पद्धति से यहाँ पूरी गुरुगीता को भी एक मन्त्र मान कर उसका विनियोग प्रदर्शित है। यहाँ उसके दो विनियोग अलग-अलग बताये गये हैं — "श्रीगुरुप्रसादसिद्ध्यर्थे जपे विनियोगः" और "मम चतुर्विधपुरुषार्थसिद्ध्यर्थे जपे विनियोगः।" इन दोनों विनियोगों को एक साथ ही रखना चाहिये, क्योंकि विनियोग के उच्चारण के बाद ही ध्यानश्लोक पढ़ा जाता है।

विनियोग में मन्त्र के ऋषि, देवता और छन्द का उल्लेख अति आवश्यक है। शुक्ल यजुर्वेद के सर्वानुक्रमसूत्र में ऋषि, देवता और छन्द का लक्षण बताने के बाद कहा है कि जो इनको बिना जाने मन्त्र का जप करता है, वह सब व्यर्थ ही नहीं जाता, जप करने वाला पाप का भागी भी होता है। वहाँ के शब्द इस प्रकार हैं — "ऋषयः स्मर्तारः, परमेष्ठ्यादयो देवताः········ छन्दांसि गायत्र्यादीनि। एतान्यविदित्वा योऽधीतेऽनुब्रूते जपति जुहोति यजते याजयते तस्य ब्रह्म निर्वीर्यं यातयामं भवत्यथोन्तरा श्वगर्ते वा पद्यते स्थाणुं वर्छति प्रमीयते वा पापीयान् भवत्यथ विज्ञायैतानि योऽधीते तस्य वीर्यवदथ योऽर्थवित्तस्य वीर्यवत्तरं भवति जपित्वा हुत्वेष्ट्वा

तत्फलेन युज्यते'' (प्रथम कण्डिका)। यहाँ यह भी स्पष्ट किया गया है कि ऋषि, देवता और छन्द के ज्ञान के साथ मन्त्र के अर्थ का ज्ञान भी उतना ही आवश्यक है। तभी मन्त्र वीर्यवान् होता है। इसीलिये तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों में मन्त्रों के विविध अर्थों का निरूपण किया गया है। योगिनीहृदय के मन्त्रसंकेत प्रकरण में षड्विध अर्थ का तथा वरिवस्यारहस्य में इनके अतिरिक्त अन्य भी अनेक अर्थों का निरूपण किया गया है। योगिनीहृदय में षड्विध अर्थों का निरूपण करने के पश्चात् बताया गया है कि यहाँ प्रस्तुत निरूपण महाज्ञानार्णव तन्त्र के आधार पर किया गया है और यह विषय विद्यापीठ संबन्धी निबन्ध ग्रन्थों में भी उपलब्ध है। प्रस्तुत प्रकरण को प्रारंभ करते हुए भास्करराय वरिवस्यारहस्य में कहते हैं —

नार्थज्ञानविहीनं शब्दस्योच्चारणं फलति ।
भस्मनि वह्निविहीने न प्रक्षिप्तं हविर्ज्वलति ।।५४।।

अर्थमजानानानां नानाविधशब्दमात्रपाठवताम् ।
उपमेयश्चक्रीवान् मलयजभारस्य वोढैव ।।५५।।

अर्थात् बिना अर्थ को समझे किया गया शब्द का उच्चारण फलवान् नहीं होता। अग्नि के बुझ जाने पर राख में दी गई आहुति फलवती नहीं होती, वह प्रज्वलित नहीं होती। बिना अर्थ को समझे नाना प्रकार के शब्दों का पाठमात्र करने वाले व्यक्ति की यहाँ चक्रीवान् (गदहा) से तुलना की गई है। मलयगिरि से चन्दन की लकड़ी को ढोने वाला गदहा जैसे उसकी सुगन्धि से वंचित रहता है, वही स्थिति यहाँ मन्त्र के अर्थ को बिना जाने उसका कोरा जप करने वाले व्यक्ति की बताई गई है। भास्करराय ने अपनी इन उक्तियों में निरुक्त के इस वचन के अभिप्राय को ही स्पष्ट किया है —

स्थाणुरयं भारहार: किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम् ।
योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ।।

यद्गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते ।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित् ।। (१.१८)

यहाँ का स्थाणु शब्द जड़ता का सूचक है। प्रथम श्लोक में अर्थज्ञान की प्रशंसा की गई है कि अर्थज्ञ अपने ज्ञान के द्वारा सारे पापों को भस्म कर नाक, अर्थात् मोक्षपदवी को प्राप्त करता है। भगवद्गीता में भी कहा गया है कि ज्ञानाग्नि सारे पापकर्मों का नाश कर देती है। नाक शब्द यहाँ स्वर्ग का वाचक न होकर मोक्ष का बोधक है। प्राचीन पांचरात्र आगम में नाक, व्योम, परमव्योम आदि पदों से मोक्षपदवी का ही बोध कराया गया है।

बिना अर्थ को समझे अक्षर मात्र के उच्चारण की निष्फलता अन्यत्र भी प्रदर्शित है। संविदुल्लास में महेश्वरानन्द[१] कहते हैं —

१. महार्थमंजरी सपरिमल का उपर्युक्त संस्करण द्रष्टव्य।

पुण्ड्रेक्षोरिव मन्त्रस्य माधुर्ये हृदयस्पृशि ।
ऋजीषमानने तिष्ठत्यक्षरोच्चारलक्षणम् ।। (पृ. १२३)

उत्कृष्ट जाति के माधुर्य से भरे गन्ने का रस जब गले के नीचे उतरता है, तभी उससे एक अनोखी तृप्ति का अनुभव होता है। इसी तरह से मन्त्र के अर्थ का बोध होने पर ही उसकी उपासना सार्थक हो सकती है। केवल अक्षर का उच्चारण तो मुँह में बची हुई खुद्दी की तरह नीरस, निष्फल होता है। मन्त्र के वास्तविक स्वरूप को बताने वाले राजराजभट्टारक का यह श्लोक भी महेश्वरानन्द की परिमल व्याख्या में ही मिलता है —

वर्णात्मको न मन्त्रो दशभुजदेहो न पञ्चवदनोऽपि ।
संकल्पपूर्वकोटौ नादोल्लासो भवेन्मन्त्रः ।। (पृ. १२२)

अर्थात् मुख से उच्चरित होने वाले वैखरी मातृका के वर्ण ही मन्त्र नहीं हैं। दस भुजा और पाँच मुँह वाले देवता का स्थूल स्वरूप भी मन्त्र नहीं हैं। मन्त्र का स्वरूप तो नाद के उल्लास में स्थित है, जो कि योगी की संकल्प-शक्ति के साथ ही उद्भूत होता है। इस नाद का लक्षण योगिनीहृदय की दीपिका टीका (पृ. १५२, ३६०) में उद्धृत वचन में मिलता है, उसे वहीं देखना चाहिये। मन्त्र के उच्चारण के साथ उसके अर्थ का अनुसन्धान करते-करते एक अलौकिक शक्ति का उदय होता है। इसी को मन्त्रवीर्य कहते हैं। मानस जप के द्वारा मन्त्र के इसी वीर्य को, उसकी शक्ति को जगाया जाता है। यही नादोल्लास है और यही मन्त्र का वास्तविक स्वरूप है। मन्त्र की इस शक्ति को जगाना ही गुरुगीता के पाठ का मुख्य प्रयोजन है। वैदिक विनियोग में केवल ऋषि, देवता और छन्द का ही उल्लेख किया जाता है, किन्तु आगम-तन्त्रशास्त्र के अनुसार मन्त्र के बीजाक्षर का और उसकी सर्जन और कीलन शक्ति का, अनुग्रह और निग्रह व्यापार का भी उल्लेख आवश्यक माना गया है। तदनुसार प्रस्तुत विनियोग में इसका भी निर्देश किया गया है।

अथ ध्यानम्

हंसाभ्यां परिवृत्तपत्रकमलैर्दिव्यैर्जगत्कारणै-
र्विश्वोत्की(त्ती)र्णमनेकदेहनिलयैः स्वच्छन्दमात्मेच्छया ।
तद्द्योतं पदशाम्भवं तु चरणं दीपाङ्कुरग्राहिणं
प्रत्यक्षाक्षरविग्रहं गुरुपदं ध्यायेद् विभुं शाश्वतम् ।।

पादुकापंचक स्तोत्र की चर्चा ऊपर आ चुकी है। इसके प्रथम श्लोक की कालीचरण कृत टीका में गुरुगीता के प्रस्तुत श्लोक के दो पाद तथा छठे श्लोक की टीका में पूरा श्लोक पाठभेद के साथ गुरुगीता का नाम देकर उद्धृत है। तदनुसार यहाँ 'विश्वोत्कीर्ण' के स्थान पर 'विश्वोत्तीर्ण' पाठ ही होना चाहिये। विश्वोत्तीर्ण और विश्वमय तत्त्व की चर्चा अभी हम यहीं आगे करेंगे।

हंकारो बिन्दुरित्युक्तो विसर्गः स इति स्मृतः ।
बिन्दुः पुरुष इत्युक्तो विसर्गः प्रकृतिः स्मृतः ।।
पुंप्रकृत्यात्मको हंसस्तदात्मकमिदं जगत् ।

कालीचरण की टीका में ही उद्धृत आगमकल्पद्रुम के इस वचन के अनुसार हं सः ये दो वर्ण पुरुष और प्रकृति के वाचक हैं। इन दो वर्णों की स्थिति सहस्रार के प्रत्येक दल में होती है। दिव्यौघ, सिद्धौघ और मानवौघ रूप गुरुपंक्ति की आराधना यहीं की जाती है। गुरुगीता में ही आगे कहा गया है —

अकथादित्रिरेखाब्जे सहस्त्रदलमण्डले ।
हंसपार्श्वत्रिकोणे च स्मरेत्तन्मध्यगं गुरुम् ।।५८।।

इसकी व्याख्या मतान्तर-प्रदर्शन पूर्वक वहीं की जायगी। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सहस्त्रदल कमल के मध्य में स्थित त्रिकोण में इन वर्णों की स्थिति पुंप्रकृत्यात्मक (पुरुष और प्रकृति स्वरूप, अद्वय दृष्टि के अनुसार शिवशक्तिस्वरूप) है। ये दो अक्षर प्राण और अपान व्यापार, अर्थात् श्वास-प्रश्वास प्रक्रिया के भी द्योतक हैं। प्राण का स्पन्दन-व्यापार ही जीव की सृष्टि का रहस्य है। इस प्रकार दिव्य सहस्त्रदल कमल के मध्यवर्ती त्रिकोण में स्थित ये दो वर्ण, अर्थात् इन दो वर्णों के अधिष्ठातृ देवता शिव-शक्ति सारे जगत् के कारणभूत हैं, स्थावर-जङ्गमात्मक अनेक प्रकार के देहों का निलय, अर्थात् घर बना कर उनके दहराकाशरूपी हृदय में ये ही बसे हुए हैं। भाव यह है कि नाना नामरूपात्मक जगत् की सृष्टि के मूल उपादान ये ही हैं और ये ही उन सबके हृदय में निवास करते हैं। इस प्रकार अपनी इच्छा से स्वच्छन्द आत्मतत्त्व विश्वोत्तीर्ण होते हुए भी विश्वमय बन जाता है।

प्रत्यभिज्ञाहृदय के ८ वें सूत्र की व्याख्या करते समय क्षेमराज कहते हैं — "विश्वोत्तीर्णमात्मतत्त्वमिति तान्त्रिकाः, विश्वमयमिति कुलाद्याम्नायनिविष्टाः, विश्वोत्तीर्णं विश्वमयं चेति त्रिकादिदर्शनविदः"। अभिनवगुप्त, क्षेमराज आदि ने तान्त्रिक शब्द का प्रयोग सिद्धान्त, वाम, दक्ष, भूत और गारुड नामक पंचप्रवाह शास्त्र के अनुयायियों के लिये किया है। प्रधानतः द्वैतवादी सिद्धान्तशैव पंचकृत्यकारी पंचमन्त्रतनु भगवान् शिव को विश्वोत्तीर्ण, विश्व के ऊपर मानते हैं। कुल, कौल और मत दर्शन के अनुयायी स्वात्मदेवतावाद के पोषक हैं। अतः इनकी

दृष्टि में पर तत्त्व विश्वमय है। त्रिक और क्रम मत के अनुसार तत्त्वातीत परम शिव अथवा भगवती संवित् विश्वोत्तीर्ण है। ये ही जब विश्व रूप में भासित होते हैं, तो विश्वमय बन जाते हैं। त्रिपुरा सम्प्रदाय के आचार्यों ने इसी मत को स्वीकार किया है और गुरुगीता के इस ध्यान-श्लोक में भी यही सिद्धान्त अभीष्ट है। योगिनीहृदय में इस विश्वमय और विश्वोत्तीर्ण तत्त्व का निरूपण इस प्रकार किया गया है —

यदा सा परमा शक्तिः स्वेच्छया विश्वरूपिणी ।
स्फुरत्तामात्मनः पश्येत् तदा चक्रस्य संभवः ।। (१.९-१०)

अतीतं तु परं तेजः स्वसंविदुदयात्मकम् ।।

स्वेच्छाविश्वमयोल्लेखखचितं विश्वरूपकम् ।
चैतन्यमात्मनो रूपं निसर्गानन्दसुन्दरम् ।। (१.४९-५०)

इन सबका अभिप्राय इतना ही है कि विश्वोत्तीर्ण तत्त्व स्वेच्छा से विश्वमय बन जाता है। प्रस्तुत ध्यान श्लोक के पूर्वार्ध में भी यही बताया गया है कि अपनी इच्छा से यह स्वच्छन्द विश्वोत्तीर्ण तत्त्व जब विश्वमय बनना चाहता है, तो उस समय इस जगत् के कारणभूत पुंप्रकृत्यात्मक अथवा शक्तिशिवात्मक हं और सः, अर्थात् बिन्दुविसर्गात्मक अथवा प्राणापानात्मक विसर्गपूरण व्यापार से संयुक्त होकर, सहस्रदल कमल स्थित त्रिकोण में आसीन होकर स्वयं सृष्ट्युन्मुख हो जाता है, विश्वमय बन जाता है, अन्यथा वह विश्वोत्तीर्ण पदवी में ही प्रतिष्ठित रहता है।

इस प्रकार विश्वमय और विश्वोत्तीर्ण परम तत्त्व की दोनों स्थितियों का निरूपण करने के उपरान्त यहाँ बताया जा रहा है कि **ब्रह्मरन्ध्र स्थित सहस्रार कमल के मध्य विराजमान त्रिकोण में ही हं सः स्वरूप गुरुचरणों का ध्यान करना चाहिये, क्योंकि यही प्रकाशमान शांभव पद है। भाव यह है कि भगवत्स्वरूप गुरुदेव के तृतीय और तुरीय चरणों का दर्शन यहीं हो पाता है। दीपशिखा के समान प्रबुद्ध कुण्डलिनी शक्ति की मृणालतन्तु के समान सूक्ष्म आभा (प्रकाश) की सहायता से उसका साक्षात्कार किया जा सकता है। इस सहस्रदल कमल में वर्णमाला का स्वरूप धारण कर साक्षात् गुरुदेव विराजमान रहते हैं। शाश्वत और व्यापक परब्रह्मस्वरूप उस गुरुपादुका का ध्यान त्रिकोण स्थित इन (हं सः) अक्षरों में ही करना चाहिये।।**

सूत उवाच

**कैलासशिखरे रम्ये भक्तिसन्धाननायकम् ।
प्रणम्य पार्वती भक्त्या शङ्करं पर्यपृच्छत ।।१।।**

सूत बोले — कैलास पर्वत के मनोरम शिखर पर विराजमान, (जीव को) भगवद्भक्ति में प्रेरित करने वालों में श्रेष्ठ, भगवान् शंकर को प्रणाम कर देवी पार्वती ने पूछा ।।१।।

अनुबन्ध-चतुष्टय

प्राचीन व्याख्याकारों की यह परम्परा रही है कि वे ग्रन्थ के प्रारंभ में अनुबन्ध-चतुष्टय पर अवश्य विचार करते हैं। विषय, प्रयोजन, संबन्ध और अधिकारी — ये चार विषय ही अनुबन्ध-चतुष्टय के नाम से शास्त्रों में प्रसिद्ध हैं। ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय क्या है? इसके अध्ययन से किस प्रयोजन की सिद्धि होगी? इस शास्त्र के अध्ययन का अधिकारी कौन है? ये विषय परस्पर एक दूसरे से कैसे संबद्ध (जुड़े हुए) हैं? इन सब बातों का संक्षिप्त विवरण प्रारंभ में दे दिया जाय, तो पाठक को अपनी रुचि के शास्त्र का अध्ययन करने में सुविधा अवश्य होती है। इस तरह से अनुबन्ध-चतुष्टय का विश्लेषण करते हुए प्राचीन टीकाकार संक्षेप में प्राय: उन सभी बातों की चर्चा कर देते हैं, जिनका कि विस्तार से उल्लेख आधुनिक ग्रन्थ-सम्पादन पद्धति में प्रारंभ में भूमिका आदि लिख कर किया जाता है। प्राचीन टीकाकारों की पद्धति के अनुसार हम भी यहाँ उन विषयों की संक्षिप्त चर्चा कर देना आवश्यक समझते हैं।

अन्य शास्त्रों की अपेक्षा आगमशास्त्र[१] या तन्त्रशास्त्र की यह विशेषता रही है कि यहाँ सृष्टि, स्थिति और संहार के अतिरिक्त तिरोधान और अनुग्रह भी भगवान् के कृत्य (कार्य) माने जाते हैं। इस तरह से प्रत्येक आगमिक या तान्त्रिक सम्प्रदाय अपने उपास्य देव को पंचकृत्यकारी मानता है। ईश्वर की तिरोधान शक्ति के कारण जीव अपने वास्तविक स्वरूप को भूल बैठता है और वह सृष्टि-स्थिति-संहार के, अर्थात् आवागमन के एक अटूट से चक्कर में पड़ जाता है। इस चक्कर से जीव ईश्वर का अनुग्रह होने पर ही निकल सकता है। ईश्वर के इस अनुग्रह (कृपा) को तन्त्रशास्त्र में ''शक्तिपात'' के नाम से जाना जाता है। ईश्वर का अनुग्रह, शक्तिपात[२], अर्थात् कृपादृष्टि जिस जीव पर पड़ती है, शास्त्रों के अध्ययन में उसकी रुचि जाग उठती है और अनायास ही उस पर गुरु की कृपा हो जाती है। गुरु की कृपा से,

---

१. आगमशास्त्र और तन्त्रशास्त्र एक ही मूल उद्गम की दो धाराएँ हैं। इसके लिये लेखक का वेदशास्त्रोत्तेजक सभा, पूना द्वारा प्रकाशित ''प्राचीन भारतीय विद्येचे पुनर्दर्शन'' नामक ग्रन्थ में स्थित ''आगम आणि तन्त्रशास्त्र'' शीर्षक निबन्ध देखिये (पृ. १८१-१९६, सन् १९७८)।

२. साधक या शिष्य पर ईश्वर या गुरु की कृपा को शक्तिपात कहा जाता है। शैव, शाक्त और वैष्णव आगमों का यह एक पारिभाषिक शब्द है। पंचकृत्यकारी (सृष्टि, स्थिति, संहार, निग्रह (तिरोधान) और अनुग्रह) प्रभु की अनुग्रह शक्ति का यह व्यापार है। ईश्वर या गुरु अपनी शक्ति का संचार साधक या शिष्य के हृदय में कर देता है, जिससे कि उसकी बुद्धि निर्मल होकर विवेकोन्मुख हो उठती है, स्वात्मस्वरूप के अन्वेषण में लग जाती है। अभिनवगुप्त ने शक्तिपात के लक्षण, भेद आदि के संबन्ध में मत-मतान्तरों की आलोचना करते हुए अपने विशाल ग्रन्थ तन्त्रालोक के तेरहवें आह्निक (भा. ८, पृ. १-२१४) में विस्तार से विचार किया है। लुप्तागमसंग्रह, द्वितीय भाग का उपोद्घात (पृ. १५५-१५७) भी देखिये।

शास्त्रों के अध्ययन से और अन्ततः निजी अध्यवसाय से जीव जब अपने वास्तविक स्वरूप को जान लेता है, तो वह आवागमन से छुटकारा पा जाता है, उस चक्कर से बाहर निकल आता है और उसके लिये ईश्वर की पंचकृत्यकारिता समाप्त हो जाती है।

पुराण वाङ्मय विशेष कर स्कन्दपुराण और शिवपुराण आगम और तन्त्रशास्त्र की इसी पद्धति का अनुसरण करते हैं। अन्त में दी गई पुष्पिका[१] के अनुसार गुरुगीता स्कन्दपुराण के उत्तर खण्ड में ईश्वर और पार्वती के संवाद के रूप में पठित है। स्कन्दपुराण के आजकल दो संस्करण उपलब्ध होते हैं — उत्तर भारत में खण्डात्मक तथा दक्षिण भारत में संहितात्मक। सनत्कुमार संहिता आदि के साथ सूतसंहिता स्कन्दपुराण के दक्षिण भारतीय संस्करण में मिलती है। स्कन्दपुराण के इन दोनों संस्करणों में गुरुगीता की खोज होनी चाहिये। उत्तर भारत का खण्डात्मक स्कन्दपुराण तो पूरा प्रकाशित हो चुका है, किन्तु संहितात्मक स्कन्दपुराण की अभी एक दो संहिताएँ ही प्रकाशित हो पाई हैं। दक्षिण भारत के पुस्तकालयों में स्कन्दपुराण की ये सभी संहिताएँ उपलब्ध हैं[२]। प्रस्तुत गुरुगीता भी आगम और तन्त्रशास्त्र से पूरी तरह से अनुप्राणित है, यह आगे स्पष्ट होगा।

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, गुरुगीता में गुरु की महिमा गाई गई है, गुरु को ही परमब्रह्मस्वरूप पर तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है, क्योंकि पर तत्त्व के निगूढ स्वरूप को खोलने की चाभी उस गुरु के पास ही है। इस तरह से गुरुगीता का प्रतिपाद्य **विषय** गुरुतत्त्व के वास्तविक स्वरूप को उद्‌घाटित करना है। गुरुतत्त्व के स्वरूप को भलीभाँति समझ लेने के साथ गुरु के द्वारा उपदिष्ट पद्धति से परमगुरु परमेश्वर का साक्षात्कार कराना ही इसका **प्रयोजन** है। यह साक्षात्कार किस तरह से संभव हो सकता है, इसकी अनेक विधियाँ यहाँ बताई गई हैं। साथ ही स्पष्ट रूप से यह भी कहा गया है कि इस गुरुगीता के उपदेश का **अधिकारी** कौन है ? अधिकारी व्यक्ति गुरु के उपदेश के अनुसार आचरण करता हुआ एकाग्र मन से गुरुतत्त्व का उपदेश करने वाली गुरुगीता का जप (पाठ) करता है, तो वह अवश्य ही इस ग्रन्थ के प्रतिपाद्य पर तत्त्व के स्वरूप का साक्षात्कार कर सकता है। इस तरह से गुरुगीता और गुरुतत्त्व के इस प्रतिपाद्य-प्रतिपादक भाव **संबन्ध** को जो सही रूप में समझ लेता है, उसकी प्रवृत्ति इस शास्त्र के अध्ययन में अवश्य जाग उठती है और अन्ततः वह अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है, गुरुतत्त्व के सही स्वरूप को समझ लेता है।

---

१. "इति श्रीस्कन्दपुराणे उत्तरखण्डे ईश्वरपार्वतीसंवादे गुरुगींता समाप्ता" इस तरह के ग्रन्थ के मध्य या अन्त में दिये जाने वाले वाक्यों को "पुष्पिका" कहा जाता है।

२. गवर्नमेन्ट मैन्युस्क्रिप्ट लाइब्रेरी, मद्रास स्थित आर १२८८१ संख्या की सनत्कुमारसंहिता की पाण्डुलिपि में इनका विवरण देखा जा सकता है।

पौराणिक सूत

पुराणों के प्रवक्ता सूत माने जाते हैं। स्कन्दपुराण में स्थित इस गुरुगीता के भी प्रवक्ता सूत ही हैं। सूत के संबन्ध में कूर्मपुराण के प्रारंभ में (१.१.३-६) ही बताया गया है कि इतिहास और पुराण के अध्ययन के लिये इन्होंने व्यास की सेवा की थी और स्वायंभुव मनु द्वारा किये जा रहे यज्ञ में सुत्याह[१] के दिन इनकी उत्पत्ति हुई थी। कूर्मपुराण में आगे (१.१३.१२-१७) वर्णित है कि वेनपुत्र पृथु के द्वारा किये जा रहे पैतामह यज्ञ में स्वयं हरि ही पौराणिक सूत के रूप में सोम की आहुति देते समय पैदा हुए थे। आहुति देते समय देवगुरु बृहस्पति (ब्राह्मण) के लिये दी जाने वाली आहुति इन्द्र (क्षत्रिय) को और इन्द्र की आहुति बृहस्पति को दे दी गई। इस तरह से आहुति के बदल जाने पर वर्ण का विपर्यय हो गया, अर्थात् धर्मशास्त्र में ब्राह्मणी में क्षत्रिय के वीर्य से उत्पन्न व्यक्ति सूत कहलाता है, उसी तरह से सूत का भी वर्णविपर्यय हो गया। इसको केवल पुराण-प्रवचन का अधिकार दिया गया, वेदाध्ययन का नहीं। कूर्म आदि पुराणों में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि सूत को वेदपाठ का अधिकार नहीं था। सूत की उत्पत्ति का यह प्रसंग विष्णु (१.१३.५०-५३), ब्रह्माण्ड (१.३६.१५९-१७३) और वायु (१.१५-४७) पुराणों में अधिक विस्तार से मिलता है।

मार्कण्डेय पुराण के छठे अध्याय में बलदेव द्वारा सूत के वध को ब्रह्महत्या बताया गया है। इसका प्रायश्चित्त करने के लिये वे तीर्थ-यात्रा करते हैं। विद्वानों के यहाँ दो पक्ष दृष्टिगोचर होते हैं। एक पक्ष के अनुसार पौराणिक सूत ब्राह्मण हैं। इसके समर्थन में अग्निपुराण का वचन दिया जाता है। इस वचन का स्थान-निर्देश वहाँ नहीं किया गया है। यदि वहाँ यह वचन हो, तो भी समस्या यह होगी कि तब पुराणों में बार-बार यह क्यों दोहराया गया है कि सूत को वेद के अध्ययन का अधिकार नहीं है। कूर्मपुराण (१.१३.१५) में सूत स्वयं कहते हैं कि मेरे वंश के लोग वेदवर्जित हैं, उनकी वृत्ति पुराण सुनाने की है। इस विषय में भारतरत्न म० म० पी० वी० काणे महोदय ने सही दृष्टिकोण अपनाया है। उनका कहना है कि पुराण इस बात का स्पष्ट उल्लेख करते हैं कि शौनक जैसे ऋषियों ने सूत से पुराण की शिक्षा ग्रहण की थी। सूत की दैवी उत्पत्ति को भले ही कोई न माने, किन्तु अतिप्राचीन काल में ब्राह्मण लोग बिना किसी मनस्ताप एवं मानहानि के सूत से गाथाओं, आख्यानों को सुन सकते थे[२]। यह परम्परा उपनिषदों में भी दिखाई पड़ती है,

---

१. डॉ० करुणा एस० त्रिवेदी के ग्रन्थ "कूर्मपुराण : धर्म और दर्शन" के परिशिष्ट भाग में इस शब्द का विवरण देखिये। मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली–वाराणसी, सन् १९९४

२. धर्मशास्त्र का इतिहास (हिन्दी अनुवाद), भा. ४, पृ. ४००-४०४, हिन्दी समिति, लखनऊ द्वारा प्रकाशित।

यहाँ तक कि ब्राह्मणों ने क्षत्रिय से ही नहीं, शूद्रों से भी ज्ञानप्राप्ति में कोई संकोच नहीं दिखाया है। रैक्व जानश्रुति, सत्यकाम जाबाल और इतरा दासी के पुत्र ऐतरेय आदि के आख्यान इसी ओर इंगित करते हैं।

अब समस्या यह रह जाती है कि तब बलदेव को सूत के वध के लिये ब्रह्महत्या का प्रायश्चित्त क्यों करना पड़ा? इसके समाधान में यही कहा जा सकता है कि शास्त्रों में सूत की जो तीन प्रकार की वृत्तियाँ (जीविका के साधन) बताई गई हैं, उनमें पुराण-वाचन सर्वश्रेष्ठ है। इस प्रसंग में मनुस्मृति[१] का कहना है कि उत्तम-उत्तम कार्यों को करते रहने से व्यक्ति श्रेष्ठ पदवी को प्राप्त कर लेता है और हीन कार्यों को करने से नीचे गिरता है। पौराणिक सूत की हत्या को ब्रह्महत्या मानने का यही कारण प्रतीत होता है।

प्रश्नोत्तरतत्त्व निर्णय

तन्त्रशास्त्र के प्रायः सभी ग्रन्थ प्रश्न-प्रतिवचन (उवाच) शैली में लिखे गये हैं। पुराणों में भी इसी शैली को अपनाया गया है। पुराणों के प्रवक्ता सूत माने जाते हैं। गुरुगीता का भी आरंभ सूत ही करते हैं। यहाँ का पहला श्लोक सूत की उक्ति है और आगे के दो श्लोकों में देवी (पार्वती) ईश्वर (महादेव) से प्रश्न करती हैं। ११९ श्लोक पर्यन्त ईश्वर भगवती के इन प्रश्नों का उत्तर देते हैं। १२० वें श्लोक में पार्वती पुनः पिण्ड, पद, रूप और रूपातीत विषयक प्रश्न करती हैं और आगे के श्लोकों में इस प्रश्न का उत्तर देने के बाद ईश्वर गुरुगीता के माहात्म्य का वर्णन करते हुए इसके अधिकारी कौन हो सकते हैं? जैसे विषयों का निरूपण करते हैं।

कविकुलगुरु कालिदास अपने महनीय काव्य रघुवंश के प्रारंभ (१.१) में पार्वती और परमेश्वर की वन्दना करते समय उनको शब्द और अर्थ के समान परस्पर अनुस्यूत मानते हैं। ये कभी अलग नहीं हो सकते। महावैयाकरण भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के प्रारंभ (१.१) में कहा है कि शब्दब्रह्म ही अर्थ, अर्थात् जगत् के रूप में विवृत होता है। तन्त्रशास्त्र भी इसी विषय को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जब परब्रह्म शब्दब्रह्म और अर्थ के रूप में परिणत होता है, तो उसका यह परिणाम ही शिव और शक्ति के नाम से जाना जाता है। शिवपुराण[२] की वायवीय संहिता में बताया गया है —

शब्दजालमशेषं तु धत्ते शर्वस्य वल्लभा।
अर्थस्वरूपमखिलं धत्ते मुग्धेन्दुशेखरः ।। (२.४.६६)

---

१. उत्तमानुत्तमान् गच्छन् हीनान् हीनांश्च वर्जयन्।
ब्राह्मणः श्रेष्ठतामेति प्रत्यवायेन शूद्रताम् ।। (४.२४५)

२. शिवपुराण, पण्डित पुस्तकालय, काशी संस्करण, संवत् २०२० वि०।

अर्थात् भगवान् शिव की शक्ति समस्त शब्दों का और ललाट पर बालचन्द्र को धारण करने वाले शिव समस्त अर्थों का स्वरूप धारण करते हैं।

समस्त जगत् की, पृथ्वी से लेकर शिव पर्यन्त छत्तीस तत्त्वों की षडध्व के रूप में व्याख्या करने वाले तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों में भी वर्ण, पद और मन्त्र शब्दात्मक तथा कला, तत्त्व और भुवन अर्थात्मक माने गये हैं और ये शिवशक्ति के विलासमात्र हैं। यहाँ प्रश्न उठता है कि जब इनकी अलग से कोई सत्ता नहीं है, तब इनमें संवाद कैसे संभव है? क्योंकि संवाद (वार्तालाप) तो परस्पर दो या अधिक व्यक्तियों का ही हो सकता है। इस प्रश्न का समाधान अद्वैतवादी तन्त्र-ग्रन्थों के टीकाकारों ने अपनी-अपनी शैली में किया है।

शब्दब्रह्म ही क्रमशः परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी वाणी[1] के रूप में परिणत होता है और तदनुसार पर, सूक्ष्म और स्थूल अर्थों की अभिव्यक्ति होती है। परावस्था में शिव और शक्ति, अर्थात् शब्द और अर्थ अभिन्न रूप से स्त्यानावस्था[2] में स्थित रहते हैं। पंचकृत्यों के सम्पादन में प्रवृत्त परमेश्वर इस अवस्था में निरन्तर अनुग्रहशील परा शक्ति से संचालित होकर स्वयं भी जब अनुग्रहस्वभाव बन जाता है, तब रुद्रयामल[3] की समावेश दशा का उन्मेष

---

१. प्रपंचसार, शारदातिलक आदि ग्रन्थों के आधार पर लेखक ने ''आगम और तन्त्रशास्त्र की सृष्टिप्रक्रिया'' नामक निबन्ध में ''भास्करराय-संमत सृष्टिप्रक्रिया'' शीर्षक के अन्तर्गत इस विषय को विस्तार से समझाने का प्रयत्न किया है। (परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली द्वारा प्रकाशित आगम और तन्त्रशास्त्र, पृ. ९४-९६, सन् १९८४ देखिये)।

२. ''स्त्यै ष्ट्यै शब्दसंघातयोः'' (भ्वा० ९१०-९११) धातु से कर्ता अर्थ में क्त प्रत्यय होने पर ''स्त्यान'' शब्द बनता है। हिम (बर्फ) दशा में जल जब जम जाता है, संघातावस्था में रहता है, तो उसकी स्वाभाविक स्पन्दन क्रिया (बहना) भी रुक जाती है। इसी तरह से शब्द और अर्थ की इस संघातावरस्था में क्रियाशक्ति स्तिमित, निस्पन्द रहती है। शब्द और अर्थ शिव और शक्ति से अभिन्न हैं, यह बताया जा चुका है। शिव और शक्ति की इसी निष्क्रिय (निष्पन्द) स्थिति को स्त्यानावस्था कहते हैं।

३. शैव और शाक्त अद्वैतवादी दार्शनिक प्रकाश शब्द को शिव का तथा विमर्श पद को शक्ति का वाचक मानते हैं। इन दोनों शब्दों का विवेचन नित्याषोडशिकार्णव के उपोद्घात (पृ. ८३) की एक टिप्पणी में किया गया है। शब्द और अर्थ की तरह, पार्वती और परमेश्वर की तरह, प्रकाश और विमर्श की भी स्थिति यामलभाव में ही रहती है, ये सदा साथ रहते हैं। वस्तुतः शब्द-अर्थ, पार्वती-परमेश्वर और प्रकाश-विमर्श शब्द पर्यायवाची हैं। अर्धनारीश्वर रूप में भगवान् शिव जैसे सतत यामलभाव में रहते हैं, वैसे ही प्रारंभ में प्रकाश और विमर्श की स्थिति सामरस्य अवस्था में रहती है। इसी को समावेश दशा भी कहते हैं। समावेश दशा में जीव में परिमित प्रमाता का भाव गौण हो जाता है और वह अपने को स्वतन्त्र, बोधस्वरूप समझने लगता है, किन्तु शिव और शक्ति का यह समावेश (सामरस्य) प्रपंच के उन्मेष के लिये होता है। जीव जिस तरह शिवभाव में समाविष्ट होता है, उसी तरह से शिव और शक्तिभाव भी प्रपंच में समाविष्ट हो जाता है, प्रपंच के रूप में दिखाई देने लगता है।

होता है, जो कि प्रकाश और विमर्श के नाम से शास्त्रों में जानी जाती है। इस प्रकार पश्यन्ती अवस्था में शास्त्रों का सूक्ष्म रूप में आविर्भाव होता है और मध्यमा एवं वैखरी में आकर ये स्थूल रूप धारण कर लेते हैं।

परा शक्ति परशिव (परमगुरु) से अभिन्न है, किन्तु अनुग्रह व्यापार में प्रवृत्त होकर जब वह पश्यन्ती भूमिका में प्रवेश करती है, तो लोक के कल्याण के लिये वह स्वयं प्रश्नकर्ता के रूप में उपस्थित होती है। उसको अपनी परा भूमि का सदा अपने आप भान होता रहता है, किन्तु वह आन्तर या बाह्य इन्द्रियों का विषय नहीं है। इसलिये वह उस परा वाणी को सदा परोक्ष मानती है। वह परा भूमि पश्यन्ती आदि से पहले विद्यमान है, अतः उसका भूतकाल में निर्देश माना जाता है। उस परा भूमि में दिन, मास आदि का संबन्ध न होने से अत्यन्त परोक्ष भूतकाल का, जैसे वह आज भी विद्यमान है, इस तरह से भान होता है। लोक में "सुप्तोऽहं किल विललाप" (मैं जब सोया हुआ था, तब प्रलाप कर रहा था) इस तरह से वर्तमान काल में भूतकाल का प्रयोग होता है, उसी तरह से यहाँ वर्तमान काल की अनुस्यूति रहते हुए भी अवस्था की भिन्नता के आधार पर "उवाच" इस भूतकाल की क्रिया का प्रयोग उचित ही माना जायगा। इसका अभिप्राय यह है कि लोक में गाढी नींद से जाग कर उठने पर व्यक्ति को उस बीती अवस्था का स्मरण नहीं रहता, क्योंकि वह उसके जाग्रत् अनुभव का विषय नहीं रही है। बाद में दूसरे व्यक्ति के कहने से तथा पूर्व अवस्था में की गई विलाप, गान आदि क्रियाओं के कारण उत्पन्न अपने शरीर के कम्प, हर्ष आदि विकारों को देख कर वह जान पाता है कि सोये हुए मैंने ऐसा किया था। इस अनुभूति का सर्वथा अपलाप नहीं किया जा सकता। मद, स्वप्न, मूर्छा आदि अवस्थाओं में किसी विशेष वस्तु का ज्ञान न होने से उसको परोक्ष अनुभूति मान लिया जाता है। परावस्था में तो वेद्य (जानने योग्य) विषय का सर्वथा अभाव ही रहता है। इन दोनों ही स्थितियों में विषय की परोक्षता तो समान ही है, किन्तु अन्तर यह है कि मद आदि अवस्थाओं में अज्ञान से आवृत (छिपा) होने से विषय का साक्षात्कार नहीं होता और परावस्था में वेद्यवेदकभाव[१] की सत्ता बनती ही नहीं।

इस विश्लेषण के आधार पर गुरुगीता में प्रयुक्त देवी (पार्वती) उवाच और ईश्वर (महादेव) उवाच जैसे वाक्यों का यह अर्थ होता है कि परम शिव विश्व का कल्याण करने की दृष्टि

१. अभी बताया गया है कि परावस्था में शब्द और अर्थ अभिन्न रूप से स्त्यानावस्था में रहते हैं। वाच्य और वाचक के भेद के अभाव में लोक-व्यवहार नहीं चल सकता। इसी बात को वाक्यपदीयकार ने कहा है —"न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते। अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते।।" (१.१२३)। अर्थात् बिना शब्द के किसी भी वस्तु का ज्ञान नहीं हो सकता। वस्तुमात्र का ज्ञान किसी न किसी शब्द से जुड़ा हुआ ही रहता है। इस तरह से परावस्था में जब वाच्यवाचकभाव की स्थिति नहीं बनती, तो उसके सहारे चलने वाले वेद्यवेदकभाव, यह वेद्य (जानने योग्य) है और यह वेदक (जानने वाला) है, इसकी भी स्थिति सुतरां नहीं बन सकती।

से स्वयं ही विमर्श रूप में बदल कर अनुग्राह्य की योग्यता के अनुसार पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी वाणी के माध्यम से प्रश्न करते हैं और प्रकाश स्वरूप में आकर इसी पद्धति से प्रश्नों का उत्तर भी देते हैं। 'उवाच' पद यहाँ लिट् लकार के उत्तम पुरुष के एक वचन में प्रयुक्त हुआ है। यद्यपि यहाँ 'वच्मि' इस वर्तमान काल की क्रिया का प्रयोग होना चाहिये, किन्तु शास्त्र तो सनातन हैं, अर्थात् इनकी सम्प्रदाय-परम्परा तीनों कालों में अविच्छिन्न रूप से चलती रहती है, अत: साधारणत: यहाँ भूत काल की क्रिया का ही प्रयोग होता है। शास्त्रों में ऐसा अनेक स्थलों में देखा गया है कि जो प्रकरण बाद में आने वाला होता है, उसके लिये भी भविष्यकाल की क्रिया का प्रयोग न होकर भूतकाल की क्रिया का प्रयोग होता है[१]। महास्वच्छन्दतन्त्र के निम्न वचन से उक्त विषय की पुष्टि होती है —

गुरुशिष्यपदे[२] स्थित्वा स्वयं देव: सदाशिव: ।
प्रश्नोत्तरपरैर्वाक्यैस्तन्त्रं समवतारयत् ।।

अर्थात् स्वयं सदाशिव देव शिव और शक्ति के रूप में गुरु और शिष्य बन कर प्रश्न और उत्तर रूप में तन्त्रों की अवतारणा करते हैं।

ग्रन्थोपक्रम (तन्त्रावतार)

श्रीगुरुगीता का द्विविध विनियोग और ध्यान बताने के बाद सूत इस ग्रन्थ का उपक्रम कैसे हुआ, इसकी सूचना पहले श्लोक में देते हैं कि भगवती पार्वती देवी के प्रश्न और भगवान् शिव के उत्तर के रूप में इस ग्रन्थ की अवतारणा हुई है। आगे के दो श्लोकों में देवी भगवान् से दीक्षा देने की प्रार्थना करती हैं और पूँछती हैं कि यह संसारी प्राणी किस मार्ग का सहारा लेकर ब्रह्मरूप हो सकता है। ११९ श्लोक पर्यन्त भगवान् शिव इन प्रश्नों का उत्तर तो देते ही हैं, विस्तार से यह भी बताते हैं कि गुरु ही ब्रह्म है और गुरु के चरणों की सेवा करने से ही उस स्वरूप की प्राप्ति हो सकती है। 'गुरु' पद की व्युत्पत्ति भी यहाँ बताई गई है। ब्रह्मप्राप्ति के अन्य उपायों की भी चर्चा की गई है, किन्तु उन सबके फलितार्थ के रूप में अन्त में यही कहा गया है कि गुरु के चरणों की शरण में जाने से सब कुछ अनायास उपलब्ध हो जाता है। प्रसंगवश यहाँ अनेक श्रुतियाँ उद्धृत की गई हैं। लोक में प्रसिद्ध गुरुतत्त्व संबन्धी अनेक वचन भी यहाँ उपलब्ध हैं। इस प्रकार यहाँ वैदिक और लौकिक दोनों ही पद्धतियों

---

१. "अत एव तन्त्रराज उत्तरपटलेषु वक्ष्यमाणोऽप्यर्थ: पूर्वपटलेषु प्रोक्त इति भूतार्थकपदेनैव तत्र तत्र निर्दिश्यते" (नि० से० १.१३)।

२. योगिनीहृदयदीपिका (पृ. ४) में यह श्लोक उद्धृत है। मुद्रित स्वच्छन्दतन्त्र (८.३१-३२) में पाठभेद के साथ यह मिलता है।

से गुरुतत्त्व को बड़े विस्तार से समझाया गया है और अन्त में यह निष्कर्ष निकाला गया है कि इस संसार में गुरु से बढ़कर जीव का कल्याणकारक दूसरा कोई नहीं है। गुरुनिन्दा के दोषों को बताने के साथ यहाँ 'गु' और 'रु' इन दो अक्षरों को मन्त्रराज की संज्ञा दी गई है और गुरु-तत्त्व के ध्यान की विधि को बताने के प्रसंग में कहा गया है कि गुरु के ध्यान से व्यक्ति पिण्ड, पद, रूप और रूपातीत से मुक्त हो जाता है।

१२० वें श्लोक में देवी पार्वती पिण्ड, पद, रूप और रूपातीत पदों के अर्थ की जिज्ञासा करती हैं और भगवान् महादेव अगले सात श्लोकों में इन पदों का अर्थ बताते हुए मुक्त व्यक्ति के स्वरूप को समझा कर १२८ वें श्लोक में कहते हैं कि तुमने मुझसे जो कुछ पूछा, उसको मैंने समझा कर बता दिया है। इसके आगे के कुछ श्लोकों में गुरुगीता के जप का माहात्म्य बताया गया है। १३७ वें श्लोक में जप से विविध कामनाओं की सिद्धि के लिये कृष्णाजिन (कृष्णमृग का चर्म) आदि विविध आसनों का विधान किया गया है। किस कामना की सिद्धि के लिये किस दिशा में मुख करना चाहिये, इस विषय को भी बताकर पुनः यहाँ १४२ वें श्लोक से गुरुगीता के पाठ से प्राप्त होने वाली सिद्धियों का उल्लेख किया गया है। गुरुगीता का पाठ भोग और मोक्ष दोनों को देने वाला है, इसका पाठ शाक्त, सौर, गाणपत्य, वैष्णव, शैव सभी कोई कर सकते हैं, इस विषय का वर्णन करने के बाद यहाँ १५२-१५५ श्लोकों में किस कामना की सिद्धि के लिये किस स्थान पर जप करना चाहिये, यह बताया गया है। आगे के श्लोकों में पुनः गुरु और गुरुगीता का माहात्म्य वर्णित है। इसी प्रसंग में कहा गया है कि गुरुगीता का जप (पाठ) किसी भी अवस्था में किया जा सकता है। अग्रिम श्लोकों (१७८-१८१) में मन्त्र की सुगोप्यता का वर्णन कर मन्त्रदान के योग्य और अयोग्य व्यक्तियों का उल्लेख किया गया है और अन्तिम श्लोक (१८२) में गुरुराज-मन्त्र का नमन करने के साथ इस ग्रन्थ की समाप्ति होती है।।१।।

देव्युवाच

ॐ नमो देवदेवेश परात्पर जगद्गुरो।
सदाशिव महादेव गुरुदीक्षां प्रदेहि मे।।२।।

केन मार्गेण भो स्वामिन् देही ब्रह्ममयो भवेत्।
त्वं कृपां कुरु मे स्वामिन् नमामि चरणौ तव।।३।।

देवी पार्वती भगवान् शिव से पूछती हैं — हे सभी देवताओं के स्वामी, परात्पर जगद्गुरु सदाशिव महादेव ! आप मुझे गुरु के द्वारा दी जाने वाली दीक्षा को दीजिये। हे स्वामी ! जिस मार्ग पर चलकर यह संसारी जीव ब्रह्मस्वरूप बन जाता है, उस मार्ग

की आप मुझे दीक्षा दीजिये। ओ मेरे स्वामी ! आप मुझ पर कृपा कीजिये। मैं आपके चरणों में प्रणाम करती हूँ।

इन्द्र, वरुण, कुबेर आदि और ब्रह्मा, विष्णु आदि देवगण अन्य देवताओं और मनुष्यों की अपेक्षा पर (श्रेष्ठ) माने जाते हैं। भगवान् महादेव इन पर देवताओं की अपेक्षा भी पर (श्रेष्ठ) हैं, अर्थात् सर्वश्रेष्ठ हैं। यही परात्पर शब्द का अभिप्राय है। अतः सर्वश्रेष्ठ भगवान् शिव से पर तत्त्व की जिज्ञासा करना उचित ही है। भगवान् शिव के सदाशिव स्वरूप की गणना ३६ तत्त्वों में से तृतीय तत्त्व के रूप में की जाती है। भगवान् शिव सदाशिव का स्वरूप धारण कर नानाविध शास्त्रों और आगमों की अवतारणा करते हैं, उपदेश देते हैं, इस विषय की चर्चा स्वच्छन्दतन्त्र में इस प्रकार की गई है —

गुरुशिष्यपदे स्थित्वा स्वयं देवः सदाशिवः ।
प्रश्नोत्तरपरैर्वाक्यैस्तन्त्रं .... ।।
(८.३१-३२)

इस श्लोक का अर्थ पृ. २१ पर दिया जा चुका है।।२-३।।

ईश्वर उवाच

मम रूपासि देवि त्वं त्वत्प्रीत्यर्थं वदाम्यहम् ।
लोकोपकारकः प्रश्नो न केनापि कृतः पुरा ।।४।।

देवी पार्वती के द्वारा पूछे गये प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत करने के अभिप्राय से भगवान् शिव कहते हैं — हे देवि ! तुम तो मेरा ही स्वरूप हो, मुझ से अभिन्न हो, अतः सब कुछ जानती हो। इस प्रकार का सभी लोगों का कल्याण करने वाला प्रश्न आज तक किसीने भी नहीं किया था, अतः तुम्हारी प्रीति के लिये मैं इन प्रश्नों का उत्तर दे रहा हूँ।

प्रस्तुत श्लोक में भगवान् शिव देवी पार्वती को अपना ही स्वरूप बताते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि इन दोनों का अविनाभाव संबन्ध है। शब्द और अर्थ के प्रसंग में महाकवि कालिदास आदि के वचनों के प्रमाणों से इसको पहले (पृ. १८-१९) दिखाया जा चुका है। बोधपंचदशिका में अभिनवगुप्त इस विषय को और भी अधिक स्पष्ट रूप में प्रतिपादित करते हैं। जैसे कि —

शक्तिश्च शक्तिमद्रूपाद् व्यतिरेकं न वाञ्छति ।
तादात्म्यमनयोर्नित्यं वह्निदाहिकयोरिव ।। (श्लो. ३)

शक्तिमान् शिव से उसकी शक्ति कभी अलग नहीं रह सकती। इनका तो सदा ही तादात्म्य, अविनाभाव संबन्ध उसी तरह से बना रहता है, जैसे कि अग्नि का और उसकी दाहिका (जलाने वाली) शक्ति का। इसी संबन्ध की पुष्टि में चन्द्रमा और चांदनी का भी दृष्टान्त दिया जाता है। ''शक्तिशक्तिमतोर्भेदः शैवे जातु न कल्प्यते'' (३.३) कह कर शिवदृष्टिकार सोमानन्द ने भी स्पष्ट किया है कि शैव प्रत्यभिज्ञा दर्शन में शक्ति और शक्तिमान् के भेद की कल्पना कभी हो ही नहीं सकती।।४।।

दुर्लभं त्रिषु लोकेषु तच्छृणुष्व वदाम्यहम् ।
गुरुं विना ब्रह्म नान्यत् सत्यं सत्यं वरानने ।।५।।

तुम्हारे द्वारा किये गये प्रश्नों का समाधान तीनों लोकों में अन्यत्र कहीं मिलना दुर्लभ है, अतः मैं जो कुछ कह रहा हूँ, उसे पूरी सावधानी से सुनो। हे सुन्दर मुखवाली देवी पार्वती ! यह बात पूरी तरह से सही है कि गुरु के सिवाय कोई ब्रह्म नहीं है, अर्थात् इस संसारी जीव को ब्रह्म-स्वरूप का बोध करने वाला एक मात्र गुरु ही है।।५।।

वेदशास्त्रपुराणानि इतिहासादिकानि च ।
मन्त्रयन्त्रादिविद्याश्च स्मृतिरुच्चाटनादिकम् ।।६।।

शैवशाक्तागमादीनि अन्यानि विविधानि च ।
अपभ्रंशकराणीह जीवानां भ्रान्तचेतसाम् ।।७।।

वेदशास्त्र, सभी पुराण-उपपुराण आदि और इतिहास-रामायण, महाभारत, आख्यान-उपाख्यान आदि, स्मृतिशास्त्र, मन्त्र-यन्त्र उच्चाटन आदि की प्रतिपादक विद्याएँ, शैव-शाक्त आदि नाना प्रकार के आगम और अन्य विविध शास्त्र — ये सब नाना प्रकार की भ्रान्तियों में उलझे हुए व्यक्तियों को अधोगति में ले जाने के साधनमात्र हैं। इसका अभिप्राय यह है कि अपने भ्रान्त चित्त के वशीभूत व्यक्ति यदि इन शास्त्रों का दुरुपयोग करते हैं, तो निश्चित ही वे पतन के मार्ग की ओर अग्रसर होते हैं। अतः व्यक्ति को गुरु की कृपा प्राप्त कर उसके द्वारा उपदिष्ट मार्ग से ही निर्व्याज मन से इनका अनुसरण करना चाहिये।।६-७।।

यज्ञो व्रतं तपो दानं ज़पस्तीर्थं तथैव च ।
गुरुतत्त्वमविज्ञाय मूढास्ते चरते जनाः ।।८।।

यज्ञ-याग आदि, व्रत-नियम आदि, तप, दान, जप, तीर्थाटन आदि क्रियाओं का अनुष्ठान वे मूढ़ मनुष्य ही करते हैं, जो कि गुरुतत्त्व को ठीक से समझ नहीं पाते। इसका

अभिप्राय यह है कि गुरुतत्त्व को जाने बिना किया गया कोई भी अनुष्ठान कभी सफल नहीं हो सकता।

काश्मीर के प्रसिद्ध मालिनीविजयतन्त्र (१८.७४-८१) के एक लम्बे उद्धरण में बताया गया है कि शुद्धि अथवा अशुद्धि का विधान, भक्ष्य अथवा अभक्ष्य का निरूपण, द्वैत अथवा अद्वैत तत्त्व का उपदेश, लिंगपूजा आदि का विधान या निषेध, निष्परिग्रह रहने या सपरिग्रह होने की अनुमति, जटा-भस्म आदि का स्वीकार या निषेध, व्रत आदि का आचरण करना या न करना, तिलक आदि चिह्न, नाम, गोत्र, व्रत आदि को रखना या न रखना — जैसी बातों के पक्ष या विपक्ष में यहाँ कुछ भी नहीं कहा गया है। इस पूरे प्रकरण का अभिप्राय यह है कि गुरु ही साधक की चर्या को निश्चित कर सकता है कि उसे क्या करना चाहिये, क्या नहीं। गुरु के मार्गदर्शन के बिना व्यक्ति भटक सकता है। अतः प्रारंभ में साधक को अपनी जीवन-चर्या गुरु के उपदेश के अनुसार की निर्धारित करनी चाहिये। अन्ततः कर्मकाण्ड की गति समाप्त हो जाती है। चित्त की शुद्धि ही इसका मुख्य प्रयोजन है। चित्त की शुद्धि हो जाने के बाद यज्ञ, तप आदि की कोई उपयोगिता नहीं रह जाती। यज्ञ, तप आदि परम तत्त्व की प्राप्ति के उपाय हैं। शास्त्रों में उपाय की परिभाषा यह दी गई है — "उपेये सति ये हेयास्तानुपायान् प्रचक्षते"। उपेय की प्राप्ति हो जाने पर जिनको छोड़ दिया जाता है, वे उपाय कहलाते हैं। इसका बहुत अच्छा उदाहरण नाव है। नदी को पार करने के उपाय के रूप में नाव का सहारा अवश्य लिया जाता है, किन्तु पार हो जाने के बाद उस नाव को छोड़ दिया जाता है, ठीक वैसी ही स्थिति प्रस्तुत श्लोक में यज्ञ, तप आदि की भी बताई गई है।।८।।

गुरुर्बुद्ध्यात्मनो नान्यत् सत्यं सत्यं न संशयः ।
तल्लाभार्थं प्रयत्नस्तु कर्तव्यो हि मनीषिभिः ।।९।।

यह गुरु अपनी निश्चयात्मिका बुद्धि से भिन्न नहीं है, अर्थात् गुरु की कृपा से ही मनुष्य की बुद्धि सत्कार्य में प्रवृत्त होती है, अतः इस तरह की बुद्धि गुरु का अपना ही स्वरूप है। यह बात पूरी तरह से सही है, इसमें किसी भी प्रकार का कोई संशय नहीं है। अतः निर्मल बुद्धि को देने वाले इस गुरु की प्राप्ति के लिये ही साधक को सतत प्रयत्न करना चाहिये।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ।। (२.४१)

भगवद्गीता के इस श्लोक में दो प्रकार की बुद्धि का निरूपण किया गया है। व्यवसायात्मिका, अर्थात् निश्चयात्मिका बुद्धि गुरुकृपा से ही प्राप्त हो सकती है। जिनके ऊपर

गुरु की कृपा नहीं है, वे अपनी संशयग्रस्त बुद्धि के कारण निरन्तर भटकते रहते हैं। इस निश्चयात्मिका बुद्धि की प्राप्ति के लिये व्यक्ति को निरन्तर प्रयत्नशील रहना पड़ता है, जैसा कि पातंजल योगसूत्र में प्रतिपादित है —

"स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः" (१.१४)

इसका अभिप्राय यह है कि लम्बे समय तक लगातार आदरपूर्वक प्रयत्नशील रहने पर किसी भी अभीष्ट की पूर्ति हो सकती है। इसीलिये भगवान् पतंजलि ने अभ्यास और वैराग्य से चित्तवृत्ति के निरोध की, अर्थात् अन्ततः निश्चयात्मिका स्थिर बुद्धि की प्राप्ति का प्रतिपादन किया है।।९।।

गूढविद्या जगन्माया देहे चाज्ञानसंभवा ।
उदयो यत्प्रकाशेन गुरुशब्देन कथ्यंते ।।१०।।

जगत् का निर्माण करने वाली ईश्वर की मायाशक्ति गूढविद्या, अर्थात् मूलाविद्या सामान्य शरीरधारी के देह में उसकी आवरक अज्ञान शक्ति, तूलाविद्या के कारण ही नाना प्रकार की असत् कल्पनाओं को उत्पन्न करती रहती है। उसकी शुद्धविद्या शक्ति जिस प्रकाश से आंलोकित होती है, प्राणी के देह में जाग उठती है, वह प्रकाश ही यहाँ गुरु शब्द से कहा जाता है, अर्थात् गुरु के प्रसाद से ही प्राणी का अज्ञान नष्ट हो पाता है और उसमें ज्ञान का प्रकाश आलोकित हो उठता है।।१०।।

सर्वपापविशुद्धात्मा श्रीगुरोः पादसेवनात् ।
देही ब्रह्म भवेद्यस्मात् त्वत्कृपार्थं वदामि ते ।।११।।

क्योंकि श्रीगुरु के चरणों की सेवा करने से देहधारी जीवात्मा सभी प्रकार के पापों से छुटकारा मिल जाने के कारण विशुद्ध (पवित्र) हो जाता है, ब्रह्मस्वरूप बन जाता है, अतः उस गुरुतत्त्व का उपदेश कृपापूर्वक मैं कर रहा हूँ, अथवा तुम्हारी कृपा पाने के लिये, तुम्हारी प्रसन्नता के लिये मैं कह रहा हूँ।

यहाँ कृपा शब्द भगवान् की अनुग्रह शक्ति के लिये, जिसे कि आगम-तन्त्रशास्त्र में "शक्तिपात" के नाम से जाना जाता है, प्रयुक्त हुआ है। प्रस्तुत श्लोक में "त्वत्कृपार्थम्" शब्द के दो तरह के अर्थ हो सकते हैं। यहाँ त्वत्, कृपा और अर्थ — ये तीन शब्द हैं। त्वत् शब्द का 'तव' अर्थ करने पर तुम्हारी कृपा और 'त्वयि' अर्थ करने पर तुम्हारे ऊपर कृपा, यह अर्थ होगा। शिव और शक्ति की अविनाभावेन स्थिति मानी गई है, अर्थात् ये कभी एक दूसरे के बिना नहीं रहते। इस विषय पर पहले (पृ. २३-२४) लिखा जा चुका है। इस स्थिति में शिव को जैसे शक्ति की कृपा अपेक्षित है, उसी तरह से शक्ति को भी शिव का अनुग्रह चाहिये। अतः यहाँ इन दोनों ही अर्थों की संगति बैठ जाती है।।११।।

गुरुपादाम्बुजं स्मृत्वा जलं शिरसि धारयेत् ।
सर्वतीर्थावगाहस्य संप्राप्नोति फलं नरः ।।१२।।

गुरु के चरण-कमलों का ध्यान कर अपने सिर पर साधक को जल का छिड़काव करना चाहिये। ऐसा करने से मनुष्य सभी तीर्थों में स्नान करने का फल पा जाता है।।१२।।

शोषणं पापपङ्कस्य दीपनं ज्ञानतेजसाम् ।
गुरुपादोदकं सम्यक् संसारार्णवतारकम् ।।१३।।

गुरु के चरणों का ध्यान कर अपने सिर पर छिड़का गया वह जल सारे पापरूपी कीचड़ को सुखा देने वाला है, ज्ञानरूपी तेज को बढ़ाने वाला है, अर्थात् मनुष्य की ज्ञान शक्ति को बढ़ाता है। साथ ही यह संसाररूपी दु:खों के सागर से साधक का भली प्रकार से उद्धार भी कर देता है।।१३।।

अज्ञानमूलहरणं जन्मकर्मनिवारणम् ।
ज्ञानवैराग्यसिद्ध्यर्थं गुरुपादोदकं पिबेत् ।।१४।।

अज्ञान का जड़-मूल से नाश कर देने वाले, जन्म-परम्परा और कर्म-परम्परा को दूर कर देने वाले गुरु के इस चरणोदक का पान साधक को ज्ञान और वैराग्य की सिद्धि के लिये करना चाहिये।

"चैतन्यमात्मा ज्ञानं बन्धः" (१.१-२) इन दो शिवसूत्रों की व्याख्या के प्रसंग में अभिनवगुप्त ने अपने महनीय ग्रन्थ तन्त्रालोक (१.२२-४७) में ज्ञान और अज्ञान के बौद्ध और पौंस्न भेदों का विस्तार से वर्णन कर मालिनीविजय के प्रमाण से बताया है कि आणव, कार्म और मायीय, ये त्रिविध मल ही जीव के बन्ध के कारण हैं। बौद्ध ग्रन्थों के प्रमाण पर यहाँ चित्त की प्रभास्वरता का भी प्रतिपादन माना जा सकता है। चित्त तो स्वभावत: निर्मल है, किन्तु उक्त मलों से आवृत होने से वह उसी प्रकार मलिन हो जाता है, जैसे कि खान से तुरन्त निकाली गई मणि मलिन रहती है। अज्ञानरूपी मलिनता के हटने पर वह शाण पर चढ़ी मणि के समान प्रभास्वर, कान्तिमान् हो उठता है।

जन्म और कर्म की परम्परा निरन्तर चलती रहती है। कर्म के कारण जन्म और जन्म के कारण नानाविध कर्मों का अनुष्ठान, यह निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है। आगम-तन्त्रशास्त्र में इस परम्परा को ही कार्म मल कहा गया है। यह परम्परा बीज और वृक्ष की परम्परा के समान सतत प्रवहमान रहती है। गुरु के चरणोदक से ही यह शृंखला टूट सकती है।।१४।।

गुरोः पादोदकं पीत्वा गुरोरुच्छिष्टभोजनम् ।
गुरुमूर्तेः सदा ध्यानं गुरुमन्त्रं सदा जपेत् ।।१५।।

गुरु के चरणोदक का पान कर, गुरु के छोड़े गये उच्छिष्ट भोजन से तृप्त होकर मनुष्य को सदा गुरु की मूर्ति का ध्यान करना चाहिये और गुरु-मन्त्र का जप सतत करते रहना चाहिये।।१५।।

काशीक्षेत्रं तन्निवासो जाह्नवी चरणोदकम् ।
गुरुर्विश्वेश्वरः साक्षात् तारकं ब्रह्म निश्चितम् ।।१६।।

गुरु का निवासस्थान (घर) ही काशी क्षेत्र है, उसका चरणोदक ही गंगा है और स्वयं गुरु विश्वेश्वर हैं, अर्थात् काशी नगरी के अधिपति भगवान् विश्वनाथ हैं। ये ही तारक ब्रह्म भी हैं, यह बात भी निश्चित है, अर्थात् काशी विश्वेश्वर जीव को अन्तिम समय में काशी में जिस तारक ब्रह्म का, मोक्ष पद को देने वाले मन्त्र का उपदेश करते हैं, वह भी गुरु का ही प्रसाद है।

इस श्लोक में काशीक्षेत्र, गंगा, विश्वेश्वर और तारक मन्त्र — इन सबका गुरु में समंजन किया गया है। गंगा के तट पर बसी काशी नगरी में अन्तिम समय आने पर भगवान् शिव प्राणीमात्र को तारक ब्रह्म (मन्त्र) का उपदेश करते हैं। यह सब गुरु के प्रसाद से अनायास उपलब्ध हो सकता है।।१६।।

गुरोः पादोदकं यत्तु गयाऽसौ सोऽक्षयो वटः ।
तीर्थराजः प्रयागश्च गुरुमूर्त्यै नमो नमः ।।१७।।

गुरु का यह चरणोदक ही गया है। यही प्रयाग स्थित अक्षयवट है और तीर्थराज प्रयाग भी यही है। उस गुरुमूर्ति के प्रति हम बार-बार नमन करते हैं।

यहाँ १६वें श्लोक में काशी क्षेत्र का और प्रस्तुत श्लोक में गया और प्रयाग का उल्लेख है। ये तीनों नगरियाँ धर्मशास्त्र के ग्रन्थों में "त्रिस्थली" के नाम से प्रसिद्ध हैं। गुरु की उपासना करने वाले को इन तीनों तीर्थस्थलों की यात्रा का तथा यहाँ किये गये पिण्डदान आदि देव-पितृ कार्यों का फल अनायास मिल जाता है।।१७।।

गुरुमूर्तिं स्मरेन्नित्यं गुरुनाम सदा जपेत् ।
गुरोराज्ञां प्रकुर्वन्ति (न् हि) गुरोरन्यन्न भावयेत् ।।१८।।

साधक को गुरु की इस मूर्ति का सदा स्मरण करते रहना चाहिये। गुरु के नाम का सदा जप करना चाहिये। गुरु की आज्ञा का सदा पालन करना चाहिये और गुरु से भिन्न अन्य किसी की कभी भी भावना नहीं करनी चाहिये।।१८।।

गुरुवक्त्रस्थितं ब्रह्म प्राप्यते तत्प्रसादतः ।
गुरोर्ध्यानं सदा कुर्यात् कुलस्त्री स्वपतेर्यथा ।।१९।।

सारा ब्रह्मज्ञान गुरु के मुख में स्थित है। यह गुरु के प्रसाद से ही, गुरु के प्रसन्न हो जाने पर ही मिल पाता है। इसलिये साधक व्यक्ति को गुरु के चरणों का ध्यान उसी प्रकार करना चाहिये, जैसे कि पतिव्रता कुलीन स्त्री अपने पति की सेवा में सर्वतोभावेन सदा लगी रहती है।।१९।।

स्वाश्रमं च स्वजातिं च स्वकीर्तिपुष्टिवर्धनम् ।
एतत् सर्वं परित्यज्य गुरोरन्यन्न भावयेत् ।।२०।।

अपने आश्रम धर्मों की, अपने जाति-कुल आदि के धर्मों की, अपनी कीर्ति और ऐश्वर्य आदि को बढ़ाने वाले धर्मों की भी कीमत पर साधक को कभी भी गुरु से भिन्न किसी अन्य व्यक्ति की भावना नहीं करनी चाहिये। अभिप्राय यह है कि इन सबकी चिन्ता किये बिना केवल गुरुचरणों की सेवा करनी चाहिये। उसी से व्यक्ति की सारी अभिलाषाएँ पूरी जो जाती हैं।।२०।।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां सुलभं परमं पदम् ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन गुरोराराधनं कुरु ।।२१।।

जो साधक अन्य देवताओं का ध्यान किये बिना केवल मेरी ही उपासना करते हैं, उनके लिये परम पंद, अर्थात् मोक्ष सुलभ है, सरलता से मिल जाता है। अतः उस परम पद को यदि तुम प्राप्त करना चाहती हो, तो अपना सारा प्रयत्न गुरु की आराधना में लगा दो।

भगवद्गीता (९.२२) में इन्हीं शब्दों में भगवान् श्रीकृष्ण स्पष्ट रूप से उद्घोष करते हैं कि जो व्यक्ति अनन्य भाव से मेरी शरण में आता है, उसके सारे योगक्षेम की जिम्मेदारी मैं स्वयं उठा लेता हूँ। प्रस्तुत श्लोक का भी यही अभिप्राय है कि श्रीगुरु की शरण में जाने से सब कुछ सुलभ हो जाता है।।२१।।

त्रैलोक्ये स्फुटवक्तारो देवाद्यसुरपन्नगाः ।
गुरुवक्त्रस्थिता विद्या गुरुभक्त्या तु लभ्यते ।।२२।।

इस त्रिलोकी में देवगण, पितृगण आदि एवं असुरगण और नागगण आदि नाना प्रकार के उपदेशों को सुनाने वाले मिल जायँगे, किन्तु गुरुमुख में स्थित विद्या तो गुरु की भक्तिपूर्वक सेवा करने से ही मिल सकती है।।२२।।

गुकारस्त्वन्धकारश्च रुकारस्तेज उच्यते ।
अज्ञानग्रासकं ब्रह्म गुरुदेवो न संशयः ।।२३।।

'गुरु' पद में स्थित गु-कार अन्धकार का और रु-कार तेज का बोधक है। इस प्रकार अज्ञान रूपी अन्धकार का ग्रास करने वाला, उसको निगल जाने वाला तेजोमय ब्रह्म गुरु ही है, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं रहना चाहिये।।२३।।

गुकारः प्रथमो वर्णो मायादिगुणभासकः ।
रुकारो द्वितीयो ब्रह्म मायाभ्रान्तिविनाशनम् ।।२४।।

'गुरु' पद का पहला वर्ण गु-कार माया आदि गुणों का भासक है, अर्थात् जीव को इस संसाररूपी भ्रम में सदा डाले रखने वाली माया का बोधक है और इसका दूसरा वर्ण रु-कार ब्रह्म का बोधक है। इस ब्रह्मज्ञान के उदय से मायाजनित सारी भ्रान्तियाँ नष्ट हो जाती हैं।।२४।।

एवं गुरुपदं श्रेष्ठं देवानामपि दुर्लभम् ।
हाहा-हूहू-गणैश्चैव गन्धर्वैश्च प्रपूज्यते ।।२५।।

इस प्रकार ऊपर के दो श्लोकों में बताई गई 'गुरु' पद की व्युत्पत्ति के आधार पर गुरुपादुका की श्रेष्ठता सिद्ध होती है। गुरुचरणों का यह प्रसाद देवताओं के लिये भी दुर्लभ है। इन गुरुपादुकाओं की श्रद्धापूर्वक उपासना हाहा-हूहू गणों के द्वारा तथा अन्य गन्धर्वों के द्वारा भी की जाती है।

अमरकोश में हाहा और हूहू शब्दों का गन्धर्वों के नामों में इस प्रकार उल्लेख मिलता है — "हाहा-हूहूश्चैवमाद्या गन्धर्वास्त्रिदिवौकसाम्" (१.१.५२)। ये देवताओं के गायक माने जाते हैं। तुम्बुरु, विश्वावसु, चित्ररथ आदि भी देवगायक गन्धर्व ही हैं। ये सब भारतीय संगीतशास्त्र के आद्य प्रवर्तक हैं। इनको भी इस शास्त्र का ज्ञान गुरु की उपासना से ही प्राप्त होता है।।२५।।

ध्रुवं तेषां च सर्वेषां नास्ति तत्त्वं गुरोः परम् ।
आसनं शयनं वस्त्रं भूषणं वाहनादिकम् ।।२६।।
साधकेन प्रदातव्यं गुरुसन्तोषकारकम् ।
गुरोराराधनं कार्यं स्वजीवित्वं निवेदयेत् ।।२७।।

इस प्रकार केवल मनुष्य साधकों के लिये ही नहीं, सभी प्राणियों के लिये गुरु से बढ़ कर जानने योग्य अन्य कोई तत्त्व नहीं है। आसन, शयन, वस्त्र, भूषण, वाहन

आदि जो कुछ भी गुरु को सन्तोष देने वाली वस्तुएँ हैं, वे सब कुछ साधक को गुरु के लिये समर्पित करनी चाहिये। इतना ही क्यों? गुरु की आराधना करने के लिये साधक को अपना जीवन भी समर्पित कर देने में संकोच नहीं होना चाहिये।

गुरु के निमित्त सर्वस्व ही नहीं, अपना जीवन भी अर्पित कर देने की बात बौद्ध तन्त्र-ग्रन्थों में भी स्वीकृत है। "आत्मानमपि निर्यात्य पुनर्मूल्यैस्तु मोक्षयेत्। नानातन्त्रेषु निर्दिष्टा दक्षिणेयं निरुत्तरा।।" (ज्ञानसिद्धि, १७.१८) गुरुदक्षिणा के प्रसंग में वहाँ संवरतन्त्र का यह वचन उद्धृत है। इसको वहाँ निरुत्तरा दक्षिणा नाम दिया गया है।।२६-२७।।

कर्मणा मनसा वाचा नित्यमाराधयेद् गुरुम् ।
दीर्घदण्डं नमस्कृत्य निर्लज्जो गुरुसन्निधौ ।।२८।।

साधक को अपने मन, वचन और कर्म से सदा गुरु की आराधना करनी चाहिये और गुरु को दीर्घ दण्डवत् नमस्कार करने में संकोच नहीं करना चाहिये, अर्थात् ऐसा करने में उसे किसी भी प्रकार की लज्जा का अनुभव नहीं होना चाहिये।

अष्टांग प्रणाम को ही यहां दीर्घदण्ड नमस्कार कहा गया है। लोक में यह दण्डवत् प्रणाम के नाम से प्रसिद्ध है। वैष्णव पांचरात्र आगम की सात्वतसंहिता (६.१८७-१८९) में मन, बुद्धि और अहंकार के साथ कछुए की तरह अपने दोनों हाथ-पैरों और सिर को प्रदक्षिणा के क्रम से देवता, गुरु आदि के संमुख फैला देने को ही अष्टांग प्रणाम कहा है। ऐसा करने में कुछ लोगों को संकोच हो सकता है। इस संकोच का परित्याग करने के लिये ही श्लोक में निर्लज्ज शब्द का प्रयोग किया गया है। इसके एक अच्छे उदाहरण महामना मदनमोहन मालवीय थे। वे अपने गुरु पं० काशीनाथ शर्मा जी को कहीं रास्ते में मिल जाने पर भी इसी पद्धति से प्रणाम करते थे।।२८।।

शरीरमिन्द्रियं प्राणान् सद्गुरुभ्यो निवेदयेत् ।
आत्मदारादिकं सर्वं सद्गुरुभ्यो निवेदयेत् ।।२९।।

साधक को अपने शरीर और इन्द्रियों को ही नहीं, अपने प्राणों को भी सद्गुरु के प्रति न्यौछावर कर देना चाहिये। अपने पुत्र, पत्नी आदि को भी सद्गुरु के प्रति समर्पित करने में किसी प्रकार का संकोच नहीं करना चाहिये।।२९।।

कृमिकीटभस्मविष्ठादुर्गन्धिमलमूत्रकम् ।
श्लेष्मरक्तं त्वचा मांसं वञ्चयेन्न वरानने ।।३०।।

हे शोभन मुख वाली देवी पार्वती। यह मानव देह या तो कीड़ों-मकोड़ों का भोजन बन जाता है, या सगे-संबन्धियों के द्वारा जला दिये जाने पर भस्म के रूप में बचा रह

जाता है। जंगल में मृत्यु हो जाने पर, हवाई दुर्घटना आदि से जल में डूब कर मृत्यु हो जाने पर यह जंगली जानवरों का अथवा जलचर जीवों का भोजन बन विष्ठा के रूप में बचा रहता है। ऐसे दुर्गन्धिमय मल-मूत्र से एवं कफ, रक्त, त्वचा, मांस आदि से भरे इस नश्वर शरीर के लिये गुरु की कभी वंचना नहीं करनी चाहिये।

भुवनेश्वरीमहास्तोत्र में एक श्लोक मिलता है —

त्वग्रुधिरमांसमज्जामेदोऽस्थिमये सदामये काये ।
माये मज्जयसि त्वं माहात्म्यं ते जनानजानानान् ।।

अर्थात् हे महामाये भुवनेश्वरि ! जो मनुष्य तुम्हारे माहात्म्य को नहीं जानते, उनको तुम सदा रोगों से आक्रान्त इस त्वचा, रुधिर, मांस, मज्जा, मेदा और हड्डियों से बने शरीर में ही डुबा देती हो, अर्थात् ऐसा अज्ञानी जीव अपने और पुत्र-कलत्र आदि के शरीर की चिन्ता में ही सदा डूबता-उतराता रहता है। स्पष्ट है कि ऐसा व्यक्ति गुरु की ऊपर के श्लोकों में निर्दिष्ट पद्धति से सेवा नहीं करेगा और नाना प्रकार की बहानेबाजी कर गुरु को ठगने की कोशिश करेगा। सच्छिष्य ऐसा न करे, यही इस श्लोक का मर्म है।।३०।।

संसारवृक्षमारूढाः पतन्तो नरकार्णवे ।
येन चैवोद्धृताः सर्वे तस्मै श्रीगुरवे नमः ।।३१।।

संसाररूपी वृक्ष पर चढ कर नरकरूपी समुद्र में गिरने वाले सभी प्राणियों का जिसने उद्धार किया है, उस गुरु के प्रति सबको नमन करना चाहिये।।३१।।

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः ।
गुरुरेव परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः ।।३२।।

गुरु ही ब्रह्मा है, वही विष्णु और वही महेश्वर (शिव) भी है। यह तीन रूप वाला (सगुण) गुरु ही (निर्गुण रूप में) साक्षात् परब्रह्म है। उस गुरु के प्रति हम सब नमन करते हैं।

यह श्लोक लोक में अतिप्रसिद्ध है। इसके तृतीय चरण का पाठ — "गुरुः साक्षात् परब्रह्म" इस प्रकार है। यहाँ आगे के (३३-४५) श्लोकों में इसी तरह से गुरुतत्त्व का नमन किया गया है।।३२।।

हेतवे जगतामेव संसारार्णवसेतवे ।
प्रभवे सर्वविद्यानां शम्भवे गुरवे नमः ।।३३।।

यह गुरुतत्त्व इस सारे जगत् का कारण-स्वरूप होते हुए भी इस संसाररूपी सागर से पार पहुँचाने के लिये सेतुस्वरूप है। साथ ही सभी तरह की विद्याओं का उत्पत्तिस्थान भी है। ऐसे साक्षात् शिवस्वरूप गुरु के प्रति हम नमन करते हैं।।३३।।

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ।।३४।।

अज्ञानरूपी अन्धकार के कारण जो अन्धा हो गया है, उसकी आँखों को जिसने ज्ञानरूपी अंजन की शलाका से खोल दिया है, अर्थात् रतौंधी का अन्धकार जैसे वैद्य के द्वारा दिये गये अंजन की सलाई को लगाकर दूर कर दिया जाता है, उसी तरह से ज्ञानोपदेश रूपी अंजनशलाका से जो अज्ञानरूपी अन्धकार को नष्ट कर देता है, उस गुरु के प्रति हम नमन करते हैं।

पहले के ३२वें श्लोक की भाँति यह श्लोक भी लोक में अतिप्रसिद्ध है। यहाँ आलंकारिक भाषा में गुरुतत्त्व का माहात्म्य दर्शाया गया है।।३४।।

त्वं पिता त्वं च मे माता त्वं बन्धुस्त्वं च देवता ।
संसारप्रतिबोधार्थं तस्मै श्रीगुरवे नमः ।।३५।।

इस संसार का प्रतिबोध कराने के लिये, सारे सांसारिक व्यवहारों को समझाने के लिये एकमात्र गुरु ही पिता, माता, बन्धु-बान्धव और इष्टदेव की भूमिका का निर्वाह करते हैं।

दार्शनिक ग्रन्थों में प्रायः जीव, जगत् और ब्रह्मविषयक प्रश्नों का समाधान अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार करने का प्रयत्न किया गया है। इन ग्रन्थों में मत-मतान्तरों के आधार पर अनेक प्रकार के समाधान मिलते हैं, किन्तु इनमें से किस तरह की योग्यता वाले व्यक्ति के लिये किस तरह का उपदेश अपेक्षित है, इसका निर्णय योग्य गुरु ही कर सकता है। गुरु ही शिष्य की योग्यता के अनुरूप, उसकी बुद्धि का विकास कहाँ तक हुआ है, इस बात का निर्णय कर उसको जीव, जगत् और ब्रह्म के स्वरूप को समझाने की चेष्टा करता है।

यहाँ यह स्पष्ट रूप से जान लेना चाहिये कि उपायों के भेद के होते हुए भी उपेय वस्तु में किसी प्रकार का भेद नहीं होता। अभिनवगुप्त ने अपने लघु ग्रन्थ तन्त्रसार में इस विषय पर अच्छा विचार किया है। इस ग्रन्थ के अब एक-दो हिन्दी अनुवाद हो चुके हैं। हमने भी विज्ञानभैरव के उपोद्घात (पृ.१९) में इस विषय को स्पष्ट किया है।।३५।।

यत्सत्येन जगत्सत्यं यत्प्रकाशेन भाति तत् ।
यदानन्देन नन्दन्ति तस्मै श्रीगुरवे नमः ।।३६।।

जिसकी सत्यता के आधार पर जगत् की सत्यता सिद्ध होती है, जिसके [१]प्रकाश से यह सारा जगत् भासित होता है, जिसके [२]आनन्दलेश से सारे प्राणी आनन्दित होते हैं, उस गुरु के लिये हम नमन करते हैं।।३६।।

यस्य स्थित्या सत्यमिदं यद् भाति भानुरूपतः ।
प्रियं पुत्रादि यत्प्रीत्या तस्मै श्रीगुरवे नमः ।।३७।।

जिसकी स्थिति के कारण यह सारा जगत् सत्यस्वरूप प्रतीत होता है, जो सूर्य आदि तेजोमय पदार्थों के रूप में भासित होता है, जिसकी प्रीति के कारण पुत्र, कलत्र, मित्र आदि के प्रति प्रीतिभाव जगता है, उस गुरु को हम प्रणाम करते हैं।।३७।।

येन चेतयते हीदं चित्तं चेतयते न यत् ।
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादि तस्मै श्रीगुरवे नमः ।।३८।।

जिसके कारण यह सारा जगत् चेतना से भर जाता है, चित्त जिसको जान नहीं पाता, जाग्रत्-स्वप्न- सुषुप्ति आदि सभी अवस्थाओं में जो सदा अनुस्यूत रहता है, उस गुरुतत्त्व के प्रति हम नमन करते हैं।।३८।।

यस्य ज्ञानादिदं विश्वं न दृश्यं भिन्नभेदतः ।
सदेकरूपरूपाय तस्मै श्रीगुरवे नमः ।।३९।।

जिस गुरु के दिये ज्ञान की सहायता से सारी भेदवासनाओं के नष्ट हो जाने के कारण इस विश्व की दृश्य के रूप में अलग से कोई स्थिति नहीं रह जाती, उस सत्तामात्रस्वरूप श्रीगुरुदेव के प्रति हम प्रणाम निवेदित करते हैं।।३९।।

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः ।
अनन्यभावभावाय तस्मै श्रीगुरवे नमः ।।४०।।

इस श्लोक के पूर्वार्ध में केनोपनिषद् (२.३) का वचन[३] उद्धृत है। उसका भाव यह है कि जो ब्रह्मवेत्ता यह कहता है कि मुझे अभी ब्रह्म का सही ज्ञान नहीं हुआ है,

---

१. तुलनीय — "तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" (मुण्डको. २.२.१०)।

२. तुलनीय — "एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति" (बृ. उ. ४.३.३२)।

३. पूरा मन्त्र इस प्रकार है — "यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ।।"(२.३)।

वास्तव में वही ब्रह्म को जान सकता है। इसके विपरीत जो यह कहता है कि मैं तो ब्रह्म को जानता हूँ, वह वास्तव में ब्रह्म को नहीं जानता। इनमें से जो यह कहता है कि मैं ब्रह्म को नहीं जानता, वह प्रयत्न करके उसको जान लेता है और जो यह कहता है कि मैं तो ब्रह्म को जानता ही हूँ, उसकी शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि में ही आत्मबुद्धि होने से वह कभी भी ब्रह्म को जान नहीं पाता।

इस श्रुति को उद्धृत कर गुरुगीता के प्रस्तुत श्लोक में बताया गया है कि अनन्य भावना से, सभी प्रकार के अहंकार आदि से मुक्त होकर जो व्यक्ति ब्रह्मभाव की प्राप्ति में लग जाता है, उसकी इस अनन्यभाव भावना को गुरु ही जगा सकता है। ऐसे गुरु को हम प्रणाम करते हैं।।४०।।

यस्य कारणरूपस्य कार्यरूपेण भाति यत् ।
कार्यकारणरूपाय तस्मै श्रीगुरवे नमः ।।४१।।

जिस कारणरूप ब्रह्म का कार्यस्वरूप जगत् के रूप में भान होता है, उस कार्यकारणमय, अर्थात् उभयात्मा गुरुदेव के प्रति हम नतमस्तक हैं।

विश्वोत्तीर्ण और विश्वमय तत्त्व का निरूपण प्रारंभ में ध्यान-श्लोक में किया जा चुका है[१]। कारणरूप ब्रह्म ही विश्वोत्तीर्ण और कार्यरूप जगत् के स्वरूप में भासित हुआ ब्रह्म ही विश्वमय है। गुरुपादुका के अनुग्रह से साधक को कार्यकारणमय इन दोनों स्वरूपों की प्रत्यभिज्ञा हो जाती है। स्वाभाविक है कि हम ऐसे गुरुदेव के प्रति नतमस्तक हों।।४१।।

नानारूपमिदं सर्वं न केनाप्यस्ति भिन्नता ।
कार्यकारणता चैव तस्मै श्रीगुरवे नमः ।।४२।।

यह सारा जगत् नाना (विविध) रूपों में भासित हो रहा है, तो भी किसी की किसी के साथ कोई भिन्नता नहीं है, अर्थात् सब कुछ सर्वात्मक है। इसीलिये किसी का किसी के प्रति कोई कार्यकारणभाव भी नहीं है। इस सिद्धान्त का बोध कराने वाले श्री गुरु को हम प्रणाम करते हैं।

शिवदृष्टि के चौथे और पाँचवें आह्निक में बड़े विस्तार से सब कुछ शिवात्मक है और सब कुछ सर्वात्मक है, इस सिद्धान्त की स्थापना की गई है। तदनुसार इस जगत् की प्रत्येक वस्तु शिवात्मक है और प्रत्येक वस्तु सर्वात्मक भी है, अर्थात् शिव की तो सर्वत्र व्याप्ति है ही, शिवस्वरूप घट-पट आदि जड़ पदार्थों की भी सर्वत्र व्यापकता विद्यमान है। पाँचवें आह्निक

---

१. पृ० १३-१४ देखिये।

के अन्तिम श्लोक (१०५-११०) इस प्रसंग में विशेष रूप से अवधेय हैं। उनका अभिप्राय यह है —

सभी भाव (पदार्थ) अपने आपको सब तरफ से जानते हैं। घट मेरे स्वरूप में अपने को जानता है और मैं अपने को घट के रूप में देखता हूँ। मैं अपने को सदाशिव के रूप में जानता हूँ और सदाशिव अपने में मेरी छाया देखते हैं। यज्ञदत्त शिव के रूप में अपने को जानता है और शिव यज्ञदत्त के रूप में अपने को देखते हैं। घट सदाशिव के रूप में अपने को पहचानता है और सदाशिव अपने को घट मानते हैं। इस तरह से इस जगत् के प्रत्येक भाव (पदार्थ) में सब कुछ समाविष्ट है, सब कुछ सर्वात्मक है। यहाँ का प्रत्येक पदार्थ नाना रूपों में अपने ही स्वरूप का विस्तार देखता है। स्वयं शिव भी नाना भावों में अपने आपको ही देखते हैं। नाना स्वरूपों में विभक्त हो रहा यह अनन्त विश्व चिच्छक्ति का ही विलास है। इस तरह से सभी भावों में सर्वसाम्य स्पष्ट रूप में दिखाई पड़ता है, अतः शिव के रूप में स्थित यहाँ के प्रत्येक पदार्थ में सारे जगत् की स्पष्ट प्रतीति होने लगती है।।४२।।

यदङ्घ्रिकमलद्वन्द्वं द्वन्द्वतापनिवारकम् ।
तारकं सर्वदाऽऽपद्भ्यः श्रीगुरुं प्रणमाम्यहम् ।।४३।।

जिसके चरण-कमल की युगल जोड़ी सभी प्रकार के द्वन्द्वों के ताप (दुःख) को दूर करने वाली है और जो सभी प्रकार की आपत्तियों से हमारी रक्षा करते हैं, उस गुरुदेव को मैं प्रणाम करता हूँ।

शीत-ताप, क्षुधा-पिपासा, सुख-दुःख, शत्रु-मित्र, काम-क्रोध, लोभ-मोह आदि परस्पर विरोधी भावों को शास्त्रों में द्वन्द्व के नाम से जाना जाता है। द्वन्द्व युद्ध को भी कहते हैं। मनुष्य के जीवन में इन परस्पर-विरोधी भावों का निरन्तर द्वन्द्व (युद्ध) चलता रहता है, अथवा इन द्वन्द्वों के कारण मनुष्य के जीवन में चक्रारपंक्तिवत् अनेक उतार-चढाव आते रहते हैं, खट्टी-मीठी अनुभूतियाँ जन्म लेती रहती हैं और विलीन होती रहती हैं। इन द्वन्द्वों पर विजय पाने का रास्ता गुरुदेव की कृपा से ही मिल सकता है।।४३।।

शिवे क्रुद्धे गुरुस्त्राता गुरौ क्रुद्धे शिवो नहि ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन श्रीगुरुं शरणं व्रजेत् ।।४४।।

भगवान् शिव के क्रुद्ध (नाराज) हो जाने पर तो गुरु रक्षक के रूप में उपस्थित हो जाते हैं, किन्तु गुरु के रुष्ट हो जाने पर शिव रक्षा के लिये नहीं आते। अतः साधक को चाहिये कि वह सभी तरह से श्रीगुरु की शरण में जाने का प्रयत्न करे।

हिन्दी के निम्न वचन में इसी बात को दूसरे रूप में प्रस्तुत किया है — "गुरु गोविन्द दोनों खड़े काको लागूँ पाँय। बलिहारी गुरु आपनी गोविन्द दियो मिलाय।।" अभिप्राय यह है कि गुरु प्रत्यक्ष ईश्वर है, गुरु की कृपा से ही ईश्वर का साक्षात्कार हो सकता है, अत: गुरुकृपा सर्वोपरि है।।४४।।

वन्दे गुरुपदद्वन्द्वं वाङ्मनश्चित्तगोचरम् ।
श्वेतरक्तप्रभाभिन्नं शिवशक्त्यात्मकं परम् ।।४५।।

गुरु के चरणयुगल को मैं नमन करता हूँ, जो कि वाणी, मन और चित्त के भी विषय हैं। अभिप्राय यह है कि निर्गुण परमात्मा तो वाणी और मन के विषय नहीं हो सकते, किन्तु साक्षात् सशरीर सगुण रूप में वर्तमान गुरु का वाणी, मन और चित्त से भी भलीभाँति साक्षात्कार किया जा सकता है। वह गुरु साकार स्वरूप में विद्यमान रहते हुए भी शिव और शक्ति के रूप में भासित होने वाले परम पद से अभिन्न है, जो कि श्वेत और रक्त प्रभा के कारण भिन्न से प्रतीत हो रहे हैं।

"अग्नीषोमात्मकं जगत्"[१] अर्थात् यह जगत् अग्नि और सोम से बना हुआ है, इस वैदिक सिद्धान्त की शैव तन्त्रों में शिव और शक्ति के रूप में व्याख्या की गई है, अर्थात् शक्ति और शिव ही अग्नि और सोम का प्रतिनिधित्व करते हैं, श्वेत (सित) और रक्त (शोण) बिन्दुयुगल के रूप में ये सारे जगत् की सृष्टि करते हैं। शाक्त तन्त्रों में कामकला के रूप में इनकी व्याख्या की गई है। अमृतानन्द योगी के गुरु पुण्यानन्द द्वारा विरचित कामकलाविलास नामक ग्रन्थ के प्रारम्भ में इस कामकला तत्त्व की विशद व्याख्या की गई है। इसका संक्षिप्त स्वरूप योगिनीहृदय की दीपिका टीका (१.१०-१२) की हमारी हिन्दी व्याख्या तथा वहाँ दी गई टिप्पणियों में देखा जा सकता है।।४५।।

गुकारं च गुणातीतं रुकारं रूपवर्जितम् ।
गुणातीतस्वरूपं च यो दद्यात् स गुरुः स्मृतः ।।४६।।

'गुरु' पद में स्थित गु-कार परतत्त्व के गुणातीत स्वरूप का बोधक है और रु-कार का अर्थ है रूप से रहित। इस प्रकार की गुणातीत और रूपविवर्जित, अर्थात् नाम-रूप से अतीत परतत्त्वमयता को जो देने वाला है, इस स्वरूप को समझाने वाला है, वही श्री गुरु कहलाता है।।४६।।

---

१. बृहज्जाबालोपनिषद् (२.४) देखिये।

अत्रिणेत्रः सर्वसाक्षी अचतुर्बाहुरच्युतः ।
अचतुर्वदनो ब्रह्मा श्रीगुरुः कथितः प्रिये ।।४७।।

हे प्रिये पार्वति! भगवान् शिव के समान यह गुरु तीन नेत्रवाला नहीं हैं, तो भी यह सर्वसाक्षी है, अर्थात् सर्वत्र साक्षी के रूप में विद्यमान रहता है, सर्वज्ञ है, सब कुछ जानता है, देखता है। इसके भगवान् विष्णु के समान चार बाहु नहीं हैं, तो भी यह अपने स्वभाव से कभी च्युत नहीं रहता। इसके चार मुख नहीं हैं, तो भी यह सदा ब्रह्मा के समान आचरण करता है। इसका अभिप्राय यह है कि गुरु तीन नेत्र, चार भुजा और चार मुखों के अभाव में भी भगवान् शिव, विष्णु और ब्रह्मा की सर्वविध सामर्थ्य से सम्पन्न रहता है। शास्त्रों में गुरु की ऐसी ही महिमा गाई गई है।।४७।।

अयं मयाऽञ्जलिर्बद्धो दयासागरवृद्धये ।
यदनुग्रहतो जन्तुश्चित्रसंसारमुक्तिभाक् ।।४८।।

श्रीगुरु की दया का सागर वृद्धि को प्राप्त हो, अर्थात् गुरुकृपा से इस संसार के सारे प्राणी सभी प्रकार के द्वन्द्वों से मुक्त हो जाँय, इसके लिये मैं यह अंजलिबद्ध (हाथ जोड़ कर) प्रार्थना करता हूँ। गुरु के अनुग्रह से ही सांसारिक जीव इन नाना प्रकार की विचित्रताओं से भरे संसार से मुक्ति पा सकता है।

शिव के पांच कृत्यों (कार्यों) का विवरण ऊपर (पृ. १५) दिया जा चुका है कि सृष्टि, स्थिति और संहार के अतिरिक्त तन्त्रशास्त्र में निग्रह और अनुग्रह भी शिव के कृत्य हैं। इनमें से निग्रह तिरोधान व्यापार के नाम से और अनुग्रह कृपा या शक्तिपात के नाम से भी जाना जाता है। तिरोधान की संरक्षण के रूप में भी व्याख्या की गई है। इस विषय के विशेष जिज्ञासुओं को हमारे लुप्तागमसंग्रह, द्वितीय भाग के संस्कृत उपोद्घात (पृ. १२७-१२९) का तथा वहाँ दी गई टिप्पणियों के आधार पर इस विषय के प्रतिपादक अन्य विशिष्ट ग्रन्थों का भी अवलोकन करना चाहिये।

योगिनीहृदय की दीपिका टीका (१.५०) में प्रत्यभिज्ञाहृदय के "स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति" इस सूत्र को और —

जगच्चित्रं समालिख्य स्वेच्छातूलिकयात्मनि ।
स्वयमेव समालोक्य प्रीणाति भगवान् शिवः ।।

किसी प्रामाणिक व्यक्ति के इस वचन को उद्धृत किया गया है। इनका अभिप्राय यह है कि किसी चित्रकार को चित्र बनाने के लिये कोई आधार, रंग और तूलिका की अपेक्षा रहती है, किन्तु यह भगवान् ऐसा विचित्र चित्रकार है कि अपनी इच्छा से अपने में ही इस

विश्वरूपी चित्र का निर्माण कर लेता है। इस चित्र के निर्माण में उसकी इच्छा ही तूलिका का और रंग का आकार धारण कर लेती है, वह शिव बिना भित्ति, वस्त्र आदि के अपने में ही इस जगत् रूपी चित्र को उकेर लेता है और अपनी ही इस विचित्र रचना को देख कर आनन्द-विभोर हो उठता है। इस प्रकार इस विचित्र जगत् की रचना कर वह जीव को निग्रह व्यापार से जकड़ लेता है और अनुग्रह शक्ति के उद्‌बुद्ध होने पर मुक्ति दिलाने की सामर्थ्य भी उसी में है।।४८।।

श्रीगुरोः परमं रूपं विवेकचक्षुषोऽमृतम् ।
मन्दभाग्या न पश्यन्ति अन्धाः सूर्योदयं यथा ।।४९।।

श्रीगुरु के उस परम अनुग्रह करने वाले स्वरूप को, जो कि विवेकरूपी चक्षु के लिये अमृत का काम करता है, अर्थात् जिसके अनुग्रह से विवेक और विज्ञान रूपी आध्यात्मिक चक्षु खुल जाते हैं, उस गुरुतत्त्व को मन्द भाग्य वाले व्यक्ति उसी तरह से देख नहीं पाते, जैसे कि अन्धे व्यक्ति सूर्योदय को नहीं देख सकते।।४९।।

श्रीनाथचरणद्वन्द्वं यस्यां दिशि विराजते ।
तस्यै दिशे नमस्कुर्याद् भक्त्या प्रतिदिनं प्रिये ।।५०।।

हे प्रिये, श्रीनाथ (गुरुदेव) के चरणयुगल जिस दिशा में विराजमान हैं, उस दिशा की तरफ प्रतिदिन भक्तिभावपूर्वक नमन करना चाहिये।

ब्रह्माण्डपुराण में हिरण्यकशिपु के निमित्त यही बात कही गई है — "हिरण्यकशिपू राजा यां यामाशां निरैक्षत। तस्यै तस्यै तदा देवा नमश्चक्रुर्महर्षिभिः।।" (२.३.५.२५)। अर्थात् दैत्यराज राजा हिरण्यकशिपु जिस दिशा की ओर देखता था, सारे देवता महर्षियों के साथ उसी दिशा को नमस्कार करते थे। इसी अभिप्राय का श्लोक महाकवि माघ कृत शिशुपालवध में भी मिलता है — "अकारि तस्यै मुकुटोपलस्खलत्करैस्त्रिसन्ध्यं त्रिदशैर्दिशे नमः" (१.४६)।।५०।।

तस्यै दिशे सततमञ्जलिरेष आर्ये
प्रक्षिप्यते मुखरितो मधुपैर्बुधैश्च ।
जागर्ति यत्र भगवान् गुरुचक्रवर्ती
विश्वोदयप्रलयनाटकनित्यसाक्षी ।।५१।।

हे आर्ये पार्वति! मैं उस दिशा की ओर अपनी (प्रणामरूपी) अंजलि समर्पित कर रहा हूँ, जो भ्रमरों के गुंजन और विद्वानों के स्तुतिगान से मुखरित है, जिस दिशा में विश्व के उदय (सृष्टि) और प्रलय (संहार) रूपी नाटक का नित्य साक्षात्कार करने वाले गुरुचक्रवर्ती भगवान् स्थित हैं।

गुरु, देवता अथवा अपना स्वामी जिस दिशा में निवास करता हो, उसका अपना महत्त्व है। पुराण और काव्यवचन के आधार पर इसकी चर्चा पूर्व श्लोक में हो चुकी है।।५१।।

श्रीनाथादिगुरुत्रयं गणपतिं पीठत्रयं भैरवं
सिद्धौघं बटुकत्रयं पदयुगं दूतीक्रमं मण्डलम्।
वीरान् द्व्यष्टचतुष्कषष्टिनवकं वीरावलीपञ्चकं
श्रीमन्मालिनिमन्त्रराजसहितं वन्दे गुरोर्मण्डलम्।।५२।।

इस श्लोक में गुरुत्रय से लेकर मन्त्रराज पर्यन्त गुरुमण्डल के देवताओं की वन्दना की गई है। यहां अनेक पारिभाषिक शब्द हैं। यह श्लोक तो अनेक स्थलों पर उद्धृत है, किन्तु इसकी व्याख्या एकाध स्थलों पर ही मिलती है। यहाँ पीताम्बरा पीठ, दतिया (मध्यप्रदेश) से प्रकाशित सप्तविंशतिरहस्य और सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय से प्रकाशित परमानन्दतन्त्र एवं उसकी टीका के आधार पर इसकी व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है।

गुरुगीता के "श्रीनाथचरणद्वन्द्वम्" (श्लो. ५०) इस श्लोक में तथा अन्यत्र भी श्रीनाथ शब्द से अपने साक्षात् गुरु का ग्रहण किया गया है। इस प्रकार गुरुत्रय से गुरु, परमगुरु और परमेष्ठीगुरु अभिप्रेत हैं। गणपति शब्द गणेश का वाचक है। परमानन्दतन्त्र (१८.२९) में महागणपति नाम दिया गया है। पीठत्रय से कामरूप, पूर्णगिरि और जालन्धर नामक तीन पीठ गृहीत हैं। भैरव पद यहां आठ भैरवों का वाचक माना गया है[१]। आठ भैरवों के अलग-

---

१. सप्तविंशतिरहस्य में भैरवों के सात नाम इस प्रकार हैं — १. मन्थान, २. फट्कार, ३. षट्चक्र, ४. एकात्मा, ५. हविर्भक्ष, ६. चण्ड और ७. भ्रमरभास्कर। परमानन्दतन्त्र (१८.३७-३८) में षट्चक्र के स्थान पर स्वचक्र, हविर्भक्ष के स्थान पर रविभक्ष और भ्रमरभास्कर के स्थान पर डमरुभास्कर नाम हैं। चण्ड के पहले वहाँ नन्द नाम भी दिया गया है और इस प्रकार आठ भैरवों की नामावली पूरी हो जाती है। शक्तिसंगमतन्त्र (३.११.२५३-२५४) की नामावली इससे मिलती-जुलती है। आठ भैरवों का प्रतिपादक यह प्रसिद्ध श्लोक अनेक ग्रन्थों में मिलता है — "असिताङ्गो रुरुश्चण्डः क्रोध उन्मत्त एव च। कपाली भीषणश्चेति संहारश्चाष्टभैरवाः।।" अष्ट भैरवों की अन्य भी नामावलियां मिलती हैं। नित्याषोडशिकार्णव (उपोद्घात, पृ. २४) और शक्तिसंगमतन्त्र (उपोद्घात, पृ. ६७) देखिये। दस बटुकों की नामावली भी यहाँ देखी जा सकती है।

अलग तन्त्रों में अलग-अलग नाम मिलते हैं। सिद्धौघ शब्द सिद्धों की परम्परा का वाचक है। दिव्यौघ, सिद्धौघ और मानवौघ नामक त्रिविध गुरु-परम्परा अपने-अपने सम्प्रदाय के अनुसार गृहीत होती है। बटुकत्रय पद से स्कन्दबटुक, चित्रबटुक और विरञ्चिबटुक अभिप्रेत हैं। श्रीविद्या आदि शाक्त तन्त्रों की परम्परा में गणेश और बटुक की उपासना का अपना महत्त्व है। पदयुग शब्द से परमगुरु के प्रकाश और विमर्श नामक [१]चरणयुगल गृहीत हैं। दूतीक्रम शब्द से योन्यम्बा[२] आदि नौ दूतियाँ अभिप्रेत हैं। सम्प्रदाय के भेद से दूतीक्रम में भी भिन्नता आ सकती है। मण्डल शब्द सूर्य, सोम और अग्नि मण्डल का वाचक माना गया है। द्व्यष्ट (द्वियुताष्टेति दश) शब्द का दो और आठ, अर्थात् दस अर्थ भैरवों के रूप में सृष्टिभैरव[३] आदि का तथा चतुष्क षष्टि (चतुष्कयुता षष्टि) का चार और साठ, अर्थात् चौसठ अर्थ करके ६४ [४]योगिनियों को ग्रहण किया जाता है। नवक संख्या से सर्वसंक्षोभिणी[५] आदि नौ मुद्राएं गृहीत हैं। वीरावलीपंचक से ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव नामक पांच देवता अभिप्रेत हैं और [६]मालिनीमन्त्रराज पद पचास वर्णवाली मातृका का वाचक माना गया है। इसका अभिप्राय यह

---

१. परमानन्दतन्त्र के टीकाकार ने प्रकाश, विमर्श, मिश्र और निर्वाण नामक चार पादुकाओं का उल्लेख किया है। (१३.१३०)। गुरु के तीन और चार चरणों का विवरण कुब्जिकामत के आधार पर यहाँ गुरुपादुकापंचक के प्रथम श्लोक में दिया जा चुका है।

२. सप्तविंशतिरहस्य में यहाँ दस नाम गिनाये हैं — योन्यम्बा, योनिसिद्धनाथाम्बा, महायोन्यम्बा, महायोनिसिद्धनाथाम्बा, दिव्ययोन्यम्बा, दिव्ययोनिसिद्धनाथाम्बा, शङ्खयोन्यम्बा, शङ्खयोनिसिद्धनाथाम्बा, पद्मयोन्यम्बा और पद्मयोनिसिद्धनाथाम्बा। यहाँ का अन्तिम नाम परमानन्दतन्त्र में नहीं है और वहाँ दूतियों की नौ संख्या सही रूप में दी गयी है।

३. सप्तविंशतिरहस्य में दस वीरों (भैरवों) के नाम इस प्रकार दिये गये हैं — सृष्टि, स्थिति, संहार, रक्त, यम, मृत्यु, भद्र, परमार्थ, मार्तण्ड और कालाग्निरुद्र। परमा० में परमार्थ के स्थान पर पराक्रम पाठ है। क्रममत में द्वादश कालियों की नामावली में भी ये नाम हैं।

४. मंगला से लेकर व्योमनाथा पर्यन्त ६४ योगिनियों के नाम परमा० (१८.५३-६१) में प्रदर्शित हैं। ६४ योगिनियों की भिन्न-भिन्न नामावलियाँ मिलती हैं। अपने सम्प्रदाय के अनुसार इनका ग्रहण किया जाता है।

५. सर्वसंक्षोभिणी आदि मुद्राओं का स्वरूप नित्याषोडशिकार्णव (३.५-२७), योगिनीहृदय (१.५९-७१) आदि में भी वर्णित है।

६. सप्तविंशतिरहस्य में मालिनीमन्त्रराज एक पद है और परमा० में मालिनी और मन्त्रराज दो अलग-अलग पद माने गये हैं। दोनों स्थानों पर ५० वर्णवाली मातृका ही मालिनी पद से गृहीत है। काश्मीर सम्प्रदाय में नादि-फान्ता वर्णावली को मालिनी माना गया है। मालिनीक्रम और भूतलिपि का परिचय नित्या० उपोद्घात (पृ. ६८-६९) से प्राप्त कीजिये।

है कि गुरु के दरबार में ये सब देवता विद्यमान हैं, अतः गुरु की उपासना करते समय इनकी भी सविधि पूजा करनी चाहिये। इसलिये मैं पूरे गुरुमण्डल की वन्दना करता हूँ।।५२।।

अभ्यस्तैः सकलैः सुदीर्घमनिलैर्व्याधिप्रदैर्दुष्करैः
प्राणायामशतैरनेककरणैर्दुःखात्मकैर्दुर्जयैः ।
यस्मिन्नभ्युदिते विनश्यति बली वायुः स्वयं तत्क्षणात्
प्राप्तुं तत्सहजं स्वभावमनिशं सेवध्वमेकं गुरुम् ।।५३।।

श्वास वायु को लम्बे समय तक रोक कर सावधानी से अभ्यास करने पर भी कभी-कभी अनेक रोगों को उत्पन्न कर देने वाले, बड़ी कठिनाई से सिद्ध होने वाले नाना प्रकार के प्राणायामों के और अनेक प्रकार के दुःखदायी करणों (उड्डियान आदि बन्धों) के अभ्यास से भी जो वायु दुर्जय है, वही बली वायु जिस भाव के जाग्रत् होने पर स्वयं तत्क्षण नष्ट हो जाता है, उस सहज स्वभाव का साक्षात्कार कराने वाले गुरु की मुक्तिकाम सभी मनुष्यों को सेवा करनी चाहिये।

कश्मीर के प्रत्यभिज्ञा दर्शन में आणव, शाक्त, शांभव और अनुपाय नामक चार उपाय वर्णित हैं। अभिनवगुप्त ने अपने ग्रन्थ तन्त्रसार में संक्षेप से और तन्त्रालोक में विस्तार से इनका वर्णन किया है। तन्त्रालोक के चतुर्थ आह्निक (४.८९-९६) में अष्टांग योग को स्व-तत्त्व के साक्षात्कार में अनुपयोगी बताया गया है। इस विषय का अतिसंक्षेप में निरूपण हमने विज्ञानभैरव के उपोद्घात (पृ. १५-२०) में किया है और उसके प्रथम श्लोक की व्याख्या (पृ. ३) में अनुपाय प्रक्रिया को ही सहजयोग सिद्ध किया है। प्रस्तुत श्लोक में इसी सहज स्थिति का निरूपण है।।५३।।

स्वदेशिकस्यैव शरीरचिन्तनं
भवेदनन्तस्य शिवस्य चिन्तनम् ।
स्वदेशिकस्यैव च नामकीर्तनं
भवेदनन्तस्य शिवस्य कीर्तनम् ।।५४।।

अपने देशिक, अर्थात् दीक्षागुरु के शरीर का चिन्तन (ध्यान) करना ही अनन्त गुणगणालंकृत भगवान् शिव के स्वरूप का चिन्तन माना जाता है। इसी तरह से अपने देशिक के नाम के संकीर्तन से ही अनन्त स्वरूपधारी भगवान् शिव के नाम का संकीर्तन सम्पन्न हो जाता है।।५४।।

यत्पादरेणुकणिका कापि संसारवारिधेः ।
सेतुबन्धायते नाथं देशिकं तमुपास्महे ।।५५।।

जिसके चरण-रज की कोई एक कणिका भी संसार रूपी समुद्र को पार करने में सेतु (पुल) का काम करती है, अर्थात् जिस दीक्षा-गुरु के चरणों की धूलि का एक ही कण व्यक्ति को संसार के पार लगा सकता है, उस देशिक की हम उपासना करते हैं।

प्रस्तुत श्लोक में रामायण वर्णित सेतुबन्ध रामेश्वर की कथा आलंकारिक भाषा में वर्णित है। इससे सारा भारतीय आस्तिक समाज परिचित है।।५५।।

यस्मादनुग्रहं लब्ध्वा महदज्ञानमुत्सृजेत् ।
तस्मै श्रीदेशिकेन्द्राय नमश्चाभीष्टसिद्धये ।।५६।।

जिस दीक्षागुरु के अनुग्रह को, अर्थात् कृपादृष्टि को प्राप्त कर मनुष्य महान् अज्ञान से छुटकारा पा सकता है, उस देशिकप्रवर को हम अपनी अभीष्ट मनोकामना की सिद्धि के लिये नमन करते हैं।

अज्ञान ही बन्ध का कारण है, मल ही अज्ञान है, ज्ञान और अज्ञान एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, इन सब विषयों का प्रतिपादन पहले (पृ. २७) हो चुका है। पौंस्न और बौद्ध ज्ञान एवं अज्ञान के स्वरूप का विशद अथ च संक्षिप्त स्वरूप हमारी पुस्तक "निगमागम संस्कृति" (पृ. ३५-३६) में देखना चाहिये। गुरुकृपा से ही साधक व्यक्ति स्वानुभूति में प्रविष्ट हो सकता है।।५६।।

पादाब्जं सर्वसंसारदावानलविनाशकम् ।
ब्रह्मरन्ध्रे सिताम्भोजमध्यस्थं चन्द्रमण्डले ।।५७।।

ब्रह्मरन्ध्र स्थित श्वेत कमल के मध्य स्थित चन्द्रमण्डल में विराजमान गुरुदेव के चरणकमल दावानल के समान, वन में फैली अग्नि के समान, सारे संसार में फैले दुःखसमूह को नष्ट कर देने में समर्थ हैं।

दावानल वन में लगने वाली आग को कहते हैं। इससे कभी-कभी सारा वन और उसमें रहने वाले प्राणी भस्म हो जाते हैं। महाभारत[1] में खाण्डव वन की कथा प्रसिद्ध है।

योगिनीहृदय की दीपिका टीका (पृ. ३५) में उद्धृत स्वच्छन्दसंग्रह नामक ग्रन्थ में दो सहस्रदल कमलों का वर्णन मिलता है। इनमें से एक की मूलाधार में और दूसरे की ब्रह्मरन्ध्र में स्थिति मानी गई है। अधो मूलाधार स्थित सहस्रदल कमल रक्त वर्ण और ऊर्ध्वमुख है। ब्रह्मरन्ध्र स्थित सहस्रदल कमल श्वेत वर्ण है और उसकी स्थिति अधोमुख है। प्रस्तुत श्लोक में ब्रह्मरन्ध्र स्थित इसी श्वेत सहस्रदल कमल का उल्लेख है। ब्रह्मरन्ध्र में ही चन्द्रमण्डल से

---

१. आदि पर्व के अन्तर्गत खाण्डवदाह पर्व (अ० २२१-२२६) देखिये ।

मनुष्य के शरीर में निरन्तर अमृत का स्राव होता रहता है, किन्तु इसका आस्वाद वे योगीजन ही ले सकते हैं, जो योगाभ्यास और युक्ति के सहारे अपनी [१]जिह्वा को तालु-तल में स्थापित करने में समर्थ हो जाते हैं। गुरुकृपा से ही इसका मार्ग प्रशस्त हो सकता है।।५७।।

अकथादित्रिरेखाब्जे सहस्रदलमण्डले ।
हंसपार्श्वत्रिकोणे च स्मरेत् तन्मध्यगं गुरुम् ।।५८।।

अकार, ककार और थकार से, अर्थात् अकार आदि १६ स्वर, ककार आदि सोलह तथा थकार आदि सोलह व्यंजनों से जिसके त्रिकोण की तीन रेखाएं बनी हैं और जिसके मध्य भाग के दोनों पार्श्वों में (दोनों तरफ) हकार और क्षकार अक्षर स्थित हैं, उस सहस्रार मण्डल के मध्य में स्थित गुरुदेव का स्मरण करना चाहिये।

शृंगाटाकार त्रिकोण का वर्णन शाक्त तन्त्रों में विशेष रूप से मिलता है। तीन रेखाओं से इसका स्वरूप बनता है। इसकी प्रथम रेखा में अकार आदि सोलह स्वरों की, द्वितीय रेखा में ककार से तकार पर्यन्त सोलह तथा तृतीय रेखा में थकार से सकार पर्यन्त सोलह वर्णों की स्थिति मानी जाती है। इस त्रिकोण के मध्य में हं और सः[२] ये दो वर्ण रखे जाते हैं। इस प्रकार सहस्रदल कमल के मध्य ५० वर्णों से सुशोभित त्रिकोण के मध्य में स्थित हं और सः वर्णों के रूप में गुरुपादुका की स्थिति मानी गई है, अर्थात् उस त्रिकोण के मध्य में शिव और शक्ति के यामलभाव के रूप में स्थित परम शिवस्वरूप गुरुपादुका का ध्यान किया जाता है।।५८।।

सकलभुवनसृष्टिः कल्पिताशेषपुष्टि-
र्निखिलनिगमदृष्टिः सम्पदां व्यर्थदृष्टिः ।
अवगुणपरिमार्ष्टिस्तत्पदार्थैकदृष्टि-
र्भवगुणपरमेष्टिर्मोक्षमार्गैकदृष्टिः ।।५९।।

गुरुदेव की यह चरणपादुका समस्त भुवनों की सृष्टि करने वाली है, अपने स्वरूप में ही कल्पित समस्त सृष्टि का पालन करने वाली है, समस्त वेद आदि शास्त्रों का ज्ञान कराने वाली है, सांसारिक सम्पत्ति की व्यर्थता का भान कराने वाली है, सारे अवगुणों

---

१. "छेदनचालनदोहैः कलां क्रमेण वर्धयेत् तावत् । सा यावद् भ्रूमध्यं स्पृशति तदा खेचरीसिद्धिः ।।" इत्यादि श्लोकों के द्वारा हठयोगप्रदीपिका (३.३२-५४) में इसकी विधि प्रदर्शित है।

२. मतान्तर में यहाँ ह और क्ष अक्षर का विन्यास किया जाता है। जिनके मत में वर्णों की संख्या ५१ है, उनको ह ळ क्ष इन अक्षरों का विन्यास अभीष्ट है। पादुकापंचक, पृ. १४ तथा यहाँ के ध्यान श्लोक की व्याख्या भी देखिये ।

का परिमार्जन करने वाली है, उनको दूर कर देती है; तत्पद से बोधित होने वाले ब्रह्मरूपी एकमात्र पदार्थ में दृष्टि को स्थिर कर देने वाली है; ज्ञान, वैराग्य आदि सांसारिक गुणों की परम दृष्टि है, श्रेष्ठ साधिका है और केवल मोक्ष मार्ग की तरफ ही व्यक्ति की दृष्टि को लगा देने वाली है।

शैव और शाक्त आगम के ग्रन्थों में भुवनों की संख्या २२४ मानी गई है। इस प्रक्रिया के अनुसार शिव और शक्ति से शब्द और अर्थ के रूप में षडध्वात्मक जगत् की सृष्टि होती है। वर्ण, पद और मन्त्र नामक तीन अध्वा (मार्ग) शब्द से तथा कला, तत्त्व और भुवन नामक तीन अध्वा अर्थ से स्फुरित होते हैं। वर्णों की संख्या ५०, पदों की ८१ और मन्त्रों की ११ मानी गयी है। इस संबन्ध में अन्य पक्ष भी शास्त्रों में वर्णित हैं। कला पांच प्रकार की, तत्त्व ३६ और भुवनों की संख्या २२४ है। इस विषय को ''तन्त्रयात्रा'' स्थित [१]संस्कृत निबन्ध के आधार पर विस्तार से समझा जा सकता है। भारतीय वाङ्मय में चतुर्दश भुवन तो प्रसिद्ध ही हैं।

''तत्त्वमसि'' इस औपनिषद [२]महावाक्य में 'तत्' पद ब्रह्म का और 'त्वम्' पद जीव का वाचक है।।५९।।

सकलभुवनरङ्गस्थापनास्तम्भयष्टिः
सकरुणरसवृष्टिस्तत्त्वमालासमष्टिः ।
समयसमयसृष्टिः सच्चिदानन्ददृष्टि-
र्निवसतु मयि नित्यं श्रीगुरोर्दिव्यदृष्टिः ।।६०।।

समस्त भुवन रूपी रंगमंच की रचना के लिये यह गुरुपादुका आधार-स्तंभ का काम करती है, करुण रस की वर्षा करने वाली है, सारे तत्त्वों की माला इसमें समाहित है, अर्थात् समस्त तत्त्वों का प्रादुर्भाव इसीसे होता है। काल के नियम के अनुसार, अर्थात् ऋतु धर्म के अनुसार यह नियमित सृष्टि करने वाली है, अर्थात् समस्त नीति-नियमों से काल की रचना करती है। ब्रह्म के सत्, चित् और आनन्द स्वरूप का साक्षात्कार कराने वाली है। श्रीगुरुदेव की यह दिव्य दृष्टि मेरे चित्त में नित्य निवास करे।

---

१. ''वैष्णवेषु तदितरेषु चागमेषु षडध्वविमर्शः'' (पृ. १४-३४) शीर्षक निबन्ध देखिये । तन्त्रयात्रा, रत्ना पब्लिकेशन्स, कमच्छा, वाराणसी, सन् १९८२ ।

२. वेदान्त दर्शन में चार महावाक्य प्रसिद्ध हैं। ये चारों वेदों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इनका स्वरूप और स्थान इस प्रकार है — सामवेद का ''तत्त्वमसि'' (छा० उ० ६.८.७ इत्यादि), ऋग्वेद का ''प्रज्ञानं ब्रह्म'' (ऐत० उ० ५.३), यजुर्वेद का ''अहं ब्रह्मास्मि'' (बृ० उ० १.४.१०) और अथर्ववेद का ''अयमात्मा ब्रह्म'' (माण्डू० उ० २)।

तन्त्रशास्त्र में समय शब्द का एक विशेष अर्थ में प्रयोग होता है। यहां समयी, पुत्रक, साधक और आचार्य (देशिक) के नाम से चार प्रकार के अधिकारी वर्णित हैं। तन्त्रशास्त्र में रुचि रखनेवाला व्यक्ति जब योग्य गुरु के पास शिष्य बनकर जाता है, तो सबसे पहले गुरु उसको कुछ नियमों का पालन करने के लिये कहता है। ये नियम ही यहाँ समय के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन समयों को सुनकर शिष्य उन समयों के पालन की प्रतिज्ञा करता है, जिनका कि वह सही ढंग से पालन कर सकता है। ऐसे शिष्य को यहाँ **'समयी'** कहा गया है। समयों का विधिवत् पालन करने वाला शिष्य गुरु को प्रिय हो जाता है, वह उसे विद्यावंश से उत्पन्न पुत्र के रूप में स्वीकार कर लेता है। तब उसे **'पुत्रक'** कहा जाता है। इसके बाद गुरु उसे साधना में लगाता है। साधना करने वाला यह शिष्य अन्ततः **'साधक'** बन जाता है और अपनी साधना के पूरा हो जाने पर यही शिष्य स्वयं **'आचार्य'** पद पर प्रतिष्ठित हो जाता है। तब उसे अन्य योग्य व्यक्तियों को दीक्षा देने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। ये सारी दीक्षाएं गुरु के द्वारा ही सम्पन्न की जाती हैं और इस प्रकार यह सम्प्रदाय-परम्परा निरन्तर चलती रहती है। इस सम्प्रदाय-परम्परा को अविच्छिन्न रूप से चलाने के लिये श्रीगुरुदेव की दिव्य दृष्टि अपेक्षित है।

अथवा तन्त्रशास्त्र में कौल मत और समय मत के नाम से दो मत प्रसिद्ध हैं। सौन्दर्यलहरी के टीकाकार लक्ष्मीधर समय मत और उसके प्रतिपादक शुभागमपंचक का विस्तार से निरूपण करते हैं। समय मत भगवान् आद्य शंकराचार्य द्वारा समर्थित माना जाता है। दक्षिण भारत में समय मत के अनुसार ही भगवती त्रिपुरसुन्दरी की उपासना की जाती है। इस समय मत के समयों (नियमों) का विधान बताने वाली गुरुपादुका ही है, अर्थात् गुरु की कृपा से ही समय मत के अनुसार भगवती की उपासना करने की श्रेष्ठ पद्धति का ज्ञान हो सकता है।।६०।।

अग्निशुद्धसमं तात ज्वालापरिचकाधिया ।
मन्त्रराजमिमं मन्येऽहर्निशं पातु मृत्युतः ।।६१।।

अग्नि की ज्वाला के समान सर्वत्र प्रकाश फैलाने वाली बुद्धि से मैं इस मन्त्रराज को अग्नि से शुद्ध सुवर्ण के समान निर्मल मानता हूँ। हे देवि ! यह मन्त्रराज तुम्हारी रात-दिन मृत्यु से रक्षा करे।

''मन्त्रराजमिदं देवि गुरुरित्यक्षरद्वयम्'' (श्लो. १०७) इस श्लोक में भी 'गुरु' पद को मन्त्रराज की संज्ञा दी गई है।।६१।।

तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तत्समीपके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्य बाह्यतः ।।६२।।

यह परब्रह्मस्वरूपिणी गुरुपादुका अपनी इच्छा के अनुसार कभी स्पन्दनशील और कभी स्थिर स्वभाव में रहती है। हमारी अज्ञानावस्था में यह हमसे बहुत दूर हो जाती है और ज्ञानोदय दशा में हमारे बहुत समीप आ जाती है। वह इस सारे जगत् के भीतर भी है और वही बाहर भी विद्यमान है।

ईशावास्य उपनिषद् के पाँचवें मन्त्र को यहाँ प्राय: उसी रूप में पढा गया है। विशेष जानकारी के लिये इस उपनिषद् के विविध भाष्यों को देखा जा सकता है। "पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" पुरुष सूक्त के इस द्वितीय मन्त्र में स्पष्ट बताया गया है कि उस परम तत्त्व का एक भाग ही जगत् के रूप में दिखाई पड़ता है। शेष तीन भाग दिव्य लोक में अमृत रूप में स्थित हैं। यहाँ भीतर-बाहर सारा जगत् उस परम तत्त्व के चतुर्थ अंश के रूप में ही सर्वत्र आलोकित है।।६२।।

अजोऽहमजरोऽहं च अनादिनिधनः स्वयम् ।
अविकारश्चिदानन्दः अणीयान् महतो महान् ।।६३।।

मैं अज हूँ, अर्थात् मेरा कभी जन्म नहीं होता। मैं अजर हूँ, अर्थात् मेरे पास बुढापा कभी नहीं फटकता। मैं स्वयं अनादिनिधन हूँ, अर्थात् आदि और अन्त से रहित परब्रह्म स्वरूप मैं ही हूँ। मैं सभी प्रकार के विकारों से रहित हूँ। चित् (विज्ञान) और आनन्द स्वरूप हूँ। मैं अणु से भी अणुतर और महान् से भी महत्तर हूँ।

इस श्लोक के चतुर्थ पाद में "अणोरणीयान् महतो महीयान्" (२.२०) कठोपनिषद् का यह वचन स्मृत है।।६३।।

अपूर्वाणां परं नित्यं स्वयंज्योतिर्निरामयम् ।
विरजं परमाकाशं ध्रुवमानन्दमव्ययम् ।।६४।।

सभी अपूर्व, अद्भुत पदार्थो से मैं परम अद्भुत हूँ अथवा सभी शुभ और अशुभ कर्मों के अनुष्ठान से उत्पन्न होने वाले अपूर्वों का मैं ही प्रेरक हूँ। नित्य, स्वयंज्योति, निरामय, विरज (शुद्धसत्त्वमय), परमाकाश (परम व्योम) स्वरूप एवं आनन्दमय परब्रह्मस्वरूप वह अव्यय ध्रुव तत्त्व भी मैं ही हूँ।

श्रुतियों में और पांचरात्र वैष्णव आगम में ये सब शब्द परम तत्त्व के विशेषण के रूप में वर्णित हैं। वहाँ परमाकाश, परम व्योम जैसे शब्द परम पद के बोधक माने गये हैं।।६४।।

श्रुतिः प्रत्यक्षमैतिह्यमनुमानं चतुष्टयम् ।
यस्य चात्मतपो वेद देशिकं च सदा स्मरेत् ।।६५।।

श्रुति, अर्थात् आगम (शब्द), प्रत्यक्ष, ऐतिह्य अर्थात् इतिहास और अनुमान — इन चारों प्रमाणों से प्रतीत होने वाली वस्तुओं को, जो अपने तप की शक्ति से, अर्थात् तपस्या के द्वारा उत्पन्न हुए प्रातिभ ज्ञान से जान लेता है, अथवा इन चारों प्रमाणों से जिस गुरु का आत्मतपोबल (अपनी तपस्या से उत्पन्न शक्ति) जाना जाता है, उस देशिक को सदा स्मरण करना चाहिये।

ऐतिह्य की, किंवदन्तियों की इतिहास के निर्माण में प्रमुख भूमिका रहती है, अत: यहाँ ऐतिह्य की भी गणना प्रमाण में की गई है। ऐतिह्य की प्रमाणता पर जहाँ विचार किया गया है, वहाँ बताया गया है कि पुराणज्ञ इसको प्रमाण मानते हैं। हम आगमों की अपेक्षा पुराणों की यह विशेषता मान सकते हैं कि आगमों में जब तीन ही प्रमाण माने गये हैं, वहां पुराणों में ऐतिह्य को भी प्रमाण मान कर उनकी संख्या चार मानी गई है। इस प्रकार यह आवश्यक नहीं है कि ऐतिह्य को प्रमाण मानने वाले पौराणिक उपमान, अर्थापत्ति, अभाव आदि को भी प्रमाण मानें। ये सब भिन्न-भिन्न दर्शन-प्रस्थानों में स्वीकृत प्रमाण हैं। प्रस्तुत श्लोक से यह स्पष्ट हो जाता है कि पौराणिकों के मत में ऐतिह्य को लेकर चार प्रमाण हैं।

योगसूत्र (३.३६) के प्रातिभ शब्द की व्याख्या करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि प्रातिभ ज्ञान से सूक्ष्म, व्यवहित, विप्रकृष्ट, अतीत और अनागत वस्तु का भी ज्ञान हो सकता है। वाचस्पति मिश्र ने प्रातिभ ज्ञान का आश्रय मन को माना है। भोजवृत्ति (३.३३) में प्रतिभा का लक्षण बताते हुए कहा है कि बिना किसी निमित्त के मन में अपने-आप एकाएक उत्पन्न होने वाला यथार्थ ज्ञान ही प्रतिभा है। कल मेरा भाई आने वाला है, बहिन के मन में एकाएक उत्पन्न हुआ संकल्प इसका उदाहरण है। प्रस्तुत श्लोक में इसी प्रातिभ ज्ञान के लिये कहा गया है कि अपने तप के प्रभाव से देशिकोत्तम के मन में ऐसा प्रातिभ ज्ञान अपने आप जाग उठता है।।६५।।

मननं यद्भवं कार्यं तद् वदामि महामते ।
साधुत्वं च मया दृष्ट्वा त्वयि तिष्ठति साम्प्रतम् ।।६६।।

हे महामतिशालिनी देवी पार्वती, अभी तुम्हारे भीतर जो साधुता (पात्रता) विद्यमान है, उसको देखते हुए मैं तुमको अब यह बताने जा रहा हूँ कि ऊपर के श्लोक में वर्णित प्रमाणों के आधार पर उत्पन्न बोध का मनन, बार-बार अभ्यास किस प्रकार किया जाता है।

"आत्मा वा अरे द्रष्टव्य: श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य:" (बृ०उ० २.४.५) इस बृहदारण्यक श्रुति में आत्मा के बोध के लिये श्रवण, मनन और निदिध्यासन का विधान है। श्रवण आदि का विधान बताने वाला यह श्लोक भी अतिप्रसिद्ध है — "श्रोतव्य: श्रुतिवाक्येभ्यो

मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः। मत्वा च सततं ध्येय एते दर्शनहेतवः।।'' यहां स्पष्ट ही श्रवण और मनन के लिये श्रुति और अनुमान की उपयोगिता बताई गई है। पुरातन ऋषि-मुनियों ने किस प्रकार श्रवण-मनन के आधार पर ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया, उनके ऐतिह्य (आख्यायिका) के आधार पर प्रोत्साहित साधक स्वयं अपने ही ब्रह्मस्वरूप का साक्षात्कार कर लेता है। इस प्रकार इन चार प्रमाणों के आधार पर अपने स्वरूप के साक्षात्कार के लिये मनन की जो प्रक्रिया शास्त्रों में वर्णित है, अगले श्लोकों में उसी को गुरु की महिमा का वर्णन करते हुए विस्तार से बताया गया है, क्योंकि गुरु की आराधना के बिना तत्त्व का फलवान् साक्षात्कार नहीं हो सकता है।।६६।।

अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम् ।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ।।६७।।

अखण्ड मण्डल के आकार वाला यह सारा चराचरात्मक संसार, अर्थात् यह सारा ब्रह्माण्ड जिस ब्रह्म पद से व्याप्त है, उस ब्रह्म पद का साक्षात्कार कराने वाले गुरुदेव के प्रति हम श्रद्धापूर्वक नमन करते हैं।

यह श्लोक भी लोक में अति प्रसिद्ध है। ''पादोऽस्य विश्वा भूतानि'' पुरुष सूक्त के इस वचन के अनुसार यह सारा जगत् उस परमात्मा के एक ही अंश से व्याप्त है।।६७।।

सर्वश्रुतिशिरोरत्नविराजितपदाम्बुजः ।
वेदान्ताम्बुजसूर्यो यस्तस्मै श्रीगुरवे नमः ।।६८।।

समस्त श्रुतियों के शीर्ष स्थान में विद्यमान मुकुट की मणि पर जिनके चरण कमल विद्यमान हैं, अर्थात् जैसे किसी राजा के सभासद तथा उसकी अधीनता स्वीकार करने वाले अन्य राजगण सिर झुका कर उसे प्रणाम करते हैं, उसी तरह से जिस गुरुपादुका के प्रति समस्त श्रुतियाँ सदा नमन करती हैं, उसकी वशवर्तिनी रहती हैं और जो वेदान्त शास्त्र रूपी कमल को खिलाने में सूर्य का प्रतिनिधित्व करती हैं, गुरुदेव की उन चरण-पादुकाओं के प्रति मैं विनयपूर्वक प्रणाम करता हूँ।।६८।।

यस्य स्मरणमात्रेण ज्ञानमुत्पद्यते स्वयम् ।
य एव सर्वसम्प्राप्तिस्तस्मै श्रीगुरवे नमः ।।६९।।

जिनके स्मरण करने मात्र से अपने आप सारा ज्ञान उत्पन्न हो जाता है और जो स्वयं ही सब कुछ है, अर्थात् इस संसार का सारा भोग-ऐश्वर्य और परम पद भी गुरुकृपा से अनायास ही मिल जाता है, क्योंकि यह सब कुछ गुरुपादुका में ही समाया हुआ है, उस श्री गुरु को हम प्रणाम करते हैं।।६९।।

चैतन्यं शाश्वतं शान्तं व्योमातीतं निरञ्जनम् ।
नादबिन्दुकलातीतं तस्मै श्रीगुरवे नमः ।।७०।।

शाश्वत, शान्त, व्योमातीत, निरंजन, नाद-बिन्दु और कला से अतीत उस गुरुदेव के चैतन्य स्वरूप का हम ध्यान करते हैं।

उपनिषद् वाङ्मय और आगम शास्त्र के कुछ अतिविशिष्ट शब्दों का यहां प्रयोग हुआ है। इनमें से व्योमातीत, निरंजन, नाद, बिन्दु और कला शब्द पर संक्षेप में विचार कर लेना उचित होगा। प्राचीन पांचरात्र आगम में परमव्योम पद मोक्षपदवी के लिये प्रयुक्त हुआ है। व्योमातीत शब्द उसी का पर्यायवाची है। पाशुपत मत में जीव की सांजन और निरंजन दशाओं का उल्लेख मिलता है। शिवभावापन्न जीव ही निरंजन कहलाता है। ''निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति'' (मुण्डको. ३.१.३) इत्यादि श्रुतियों में इसी अर्थ में यह शब्द प्रयुक्त है। सन्त साहित्य में प्रयुक्त नाथ, निरंजन आदि शब्दों से भी ब्रह्मभावापन्न गुरु का अथवा परम तत्त्व का बोध होता है। नाद, बिन्दु और कला शब्द का प्रयोग विभिन्न आगमों में विभिन्न अर्थों में होता है। मोटे रूप से हम मान सकते हैं कि शब्द और अर्थ स्वरूप शिव और शक्ति के लिये नाद और बिन्दु शब्द प्रयुक्त हैं तथा भगवान् के सकल, सगुण रूप की निष्पादक ३८ अथवा ५ कलाएं होती हैं। निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ति और शान्त्यतीता नामक पाँच कलाओं से पुनः ३८ कलाओं[१] का विकास होता है। इन शब्दों के अर्थ को सही रूप में समझना थोड़ा दुरूह है। [२]म०म० पी०वी० काणे जैसे विद्वान् भी इस विषय को आगम वाङ्मय के अध्ययन के अभाव में ठीक से न समझ पाने के कारण म०म०पं० गोपीनाथ कविराज जैसे आगम-तन्त्रशास्त्र के निष्णात विद्वान् पर आक्षेप करने से अपने को बचा नहीं सके हैं।।७०।।

स्थावरं जङ्गमं चैव तथा चैव चराचरम् ।
व्याप्तं येन जगत्सर्वं तस्मै श्रीगुरवे नमः ।।७१।।

स्थावर (वृक्ष, पर्वत आदि) और जंगम (पशु, पक्षी, मनुष्य आदि), चर (चलनशील) और अचर (स्थिरस्वभाव) यह सारा जगत् जिससे व्याप्त है, उस गुरुदेव को हम प्रणाम करते हैं।।७१।।

---

१. भगवान् शिव के ईशान, तत्पुरुष, अघोर, वामदेव और सद्योजात मुख की तारा, सुतारा आदि ३८ कलाओं का परिचय स्वच्छन्दतन्त्र (१.५३-५९), मृत्युंजयभट्टारक (नेत्रतन्त्र, २२.२६-३४) आदि से प्राप्त किया जा सकता है। साधक के शरीर में इन कलाओं के न्यास का प्रकार सिद्धान्तसारावलि (पृ. ११७-१२०) में देखिये। यह ग्रन्थ जंगमवाडी मठ, वाराणसी से अभी हाल में (सन् १९९८) प्रकाशित हुआ है।

२. धर्मशास्त्र का इतिहास, हिन्दी संस्करण, तन्त्र खण्ड, पृ. २६ देखिये ।

ज्ञानशक्तिसमारूढस्तत्त्वमालाविभूषितः ।
भुक्तिमुक्तिप्रदाता यस्तस्मै श्रीगुरवे नमः ।।७२।।

ज्ञानशक्ति पर जो समारूढ है, अर्थात् ज्ञानशक्ति जिसके अधीन है, सांख्य-संमत २५ अथवा शैवशाक्तागम-संमत ३६ तत्त्वों की माला से जो विभूषित है, जो भोग और मोक्ष को देने वाला है, उस गुरुदेव की हम वन्दना करते हैं।

"जानाति, इच्छति, यतते" न्यायदर्शन में यह किसी भी कार्य में प्रवृत्ति का क्रम बताया गया है, अर्थात् पहले व्यक्ति किसी वस्तु को जानता है, फिर उसको प्राप्त करना चाहता है और अन्त में उसको प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील होता है। इसी तरह से ईश्वर भी जब एक से अनेक रूप धारण करना चाहता है, तो शैव-शाक्त तन्त्रों में प्रतिपादित छत्तीस तत्त्वों से वह विभूषित हो जाता है, एक ही विश्वातीत तत्त्व विश्वमय हो जाता है, तत्त्वों की यह धारा ही इस सारे जगत् का रूप धारण कर लेती है, सर्वत्र व्याप्त हो जाती है। "एकोऽहं बहु स्याम्" यह शुभ संकल्प इसमें प्रेरक होता है। भारतीय साहित्य में एक से लेकर छत्तीस तक तत्त्वों की संख्या मानी गई है। इनका संक्षिप्त विवरण हमारे "तन्त्रयात्रा"[१] नामक ग्रन्थ में प्रकाशित "कति तत्त्वानि" शीर्षक निबन्ध में देखा जा सकता है। प्रस्तुत श्लोक में **तत्त्वमाला** शब्द से इसी तरफ इंगित किया गया है।।७२।।

अनेकजन्मसम्प्राप्तसर्वकर्मविदाहिने ।
स्वात्मज्ञानप्रभावेण तस्मै श्रीगुरवे नमः ।।७३।।

अपने ज्ञान के प्रभाव से अनेक जन्मों से, अर्थात् जन्म-जन्मान्तर से प्राप्त सभी प्रकार के कर्मों को भस्म कर देने वाले श्रीगुरुचरणों को हम नमस्कार करते हैं।

भगवद्गीता (४.३७) में बताया गया है कि ज्ञानाग्नि अनेक जन्मों के नाना प्रकार के कर्मों को भस्म कर देती है। दूसरी तरफ [२]महाभारत, पुराण आदि का कहना है कि बिना भोग के कर्म का क्षय नहीं होता। इन दोनों परस्परविरोधी से प्रतीत हो रहे वाक्यों में शास्त्रकारों ने इस प्रकार समन्वय किया है कि ज्ञानाग्नि पूर्व जन्मों के संचित कर्मों का तो नाश कर देती है, किन्तु प्रारब्ध[३] कर्मों का क्षय भोग से ही होता है। एक ही जन्म में मुक्ति मिलने का आगम-तन्त्रशास्त्र का सिद्धान्त इसी व्याख्या पर निर्भर है। साधक जीवन्मुक्त तो हो सकता

---

१. तन्त्रयात्रा, पृ. ३-१३, प्रथम संस्करण, १९८२

२. "नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि" यह वचन महाभारत में तथा अनेक पुराणों में भी मिलता है।

३. भगवद्गीता (४.३७) के भाष्यों और टीकाओं में यह सिद्धान्त प्रतिपादित है।

है, किन्तु प्रारब्ध कर्मों का फल भोगे बिना मुक्ति नहीं मिल सकती। इसीलिये प्रत्यभिज्ञा दर्शन में ज्ञान और अज्ञान के दो-दो भेद किये गये हैं। बौद्ध ज्ञान से जीवन्मुक्ति दशा का तो आविर्भाव हो जायगा, उस स्थिति में जन्म-जन्मान्तर के संचित कर्म तो दग्धबीज तुल्य हो जायंगे, किन्तु इससे उसके प्रारब्ध कर्मों का क्षय नहीं होगा। इन प्रारब्ध कर्मों का क्षय होने तक उसको इस स्थूल शरीर को ढोना ही होगा। तभी उसे पौंस्न ज्ञान की प्राप्ति होगी, अर्थात् भोग द्वारा प्रारब्ध कर्मों का क्षय होने के उपरान्त उसमें पौंस्न ज्ञान का आविर्भाव होगा तथा वह देहपात के साथ ही मुक्ति दशा को प्राप्त कर सकेगा। उत्क्रमण के सिद्धान्त को यहां मान्यता नहीं मिली है, अर्थात् मुक्तिदशा में उसे कहीं जाना नहीं पड़ता, किन्तु ''न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवलीयन्ते'' (बृ० उ० ४.४.६) इस बृहदारण्यक श्रुति के अनुसार उसे तत्काल अपने में शिवस्वरूप की प्रत्यभिज्ञा हो जाती है, जिसे कि वह अब तक भुलाये बैठा था।।७३।।

न गुरोरधिकं तत्त्वं न गुरोरधिकं तपः ।
तत्त्वं ज्ञानात् परं नास्ति तस्मै श्रीगुरवे नमः ।।७४।।

गुरु से बढकर कोई तत्त्व नहीं है, गुरु से बढकर कोई तप नहीं है, ज्ञान से बढकर कोई तत्त्व नहीं है, उस ज्ञान को देने वाले गुरु के प्रति हम अपना नमन समर्पित करते हैं।।७४।।

मन्नाथः श्रीजगन्नाथो मद्गुरुस्त्रिजगद्गुरुः ।
ममात्मा सर्वभूतात्मा तस्मै श्रीगुरवे नमः ।।७५।।

मेरे नाथ, अर्थात् गुरुदेव सारे जगत् के नाथ हैं। मेरे गुरु तीनों लोकों के गुरु हैं। मेरी आत्मा सभी भूतों की आत्मा से अभिन्न है, अर्थात् सभी प्राणी मेरे ही स्वरूप हैं, सभी प्राणियों में मुझे अपने स्वरूप का ही भान हो रहा है। इस अभेद-बुद्धि को देने वाले गुरुदेव के प्रति मैं नतभाव से उपस्थित हूँ।

योगिनीहृदय में शिव, गुरु और आत्मा की एकता के अनुसन्धान की प्रक्रिया का वर्णन निगर्भार्थ[1] के प्रसंग में किया गया है। प्रस्तुत प्रक्रिया में भी प्रायः वही विषय वर्णित है।।७५।।

ध्यानमूलं गुरोर्मूर्तिः पूजामूलं गुरोः पदम् ।
मन्त्रमूलं गुरोर्वाक्यं मोक्षमूलं गुरोः कृपा ।।७६।।

ध्यान का मूल गुरु की मूर्ति है, अर्थात् गुरु की मूर्ति पर ध्यान को स्थिर करने पर सर्वत्र ध्यान स्थिर हो जाता है। पूजा का मूल गुरु की पादुका है, अर्थात् गुरुपादुका

---

१. ''निगर्भोऽपि महादेवि शिवगुर्वात्मगोचरः'' (२.४८-५१) इत्यादि श्लोक और उनकी व्याख्या देखिये।

का पूजन करने से सर्वविध पूजा सम्पन्न हो जाती है। मन्त्र का मूल गुरु का वाक्य है, अर्थात् गुरु जो जो उपदेश देता है, वह सब मन्त्रमय हो जाता है। उसी तरह से मोक्ष का मूल गुरु की कृपा है, अर्थात् गुरु की कृपा से ही व्यक्ति को मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है।।७६।।

गुरुरादिरनादिश्च गुरुः परमदैवतम् ।
गुरोः परतरं नास्ति तस्मै श्रीगुरवे नमः ।।७७।।

गुरु हमारी ज्ञान-प्राप्ति का आदिकारण है एवं यह गुरुमूर्ति आदि और अन्त से रहित है। गुरु ही सर्वश्रेष्ठ देवता है। गुरु से बढकर इस संसार में दूसरा कोई नहीं है। उस गुरु के प्रति हम नतमस्तक हैं।।७७।।

सप्तसागरपर्यन्ततीर्थस्नानादिकं फलम् ।
गुरोरङ्घ्रिपयोबिन्दुसहस्रांशेन दुर्लभम् ।।७८।।

सात समुद्र पर्यन्त समस्त तीर्थों में स्नान, तर्पण आदि से जो फल मिलता है, वह समस्त पुण्य गुरुदेव के चरणों के प्रक्षालन से प्राप्त पादोदक की एक बूँद के हजारवें हिस्से से भी दुर्लभ नहीं है, अर्थात् समस्त तीर्थों के सेवन से जितना पुण्य प्राप्त होता है, वह सब गुरु के चरणों की धोवन की एक बूँद के हजारवें हिस्से से ही मिल जाता है।।७८।।

हरौ रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन श्रीगुरुं शरणं व्रजेत् ।।७९।।

हरि के, अर्थात् भगवान् के समस्त रूपों के, समस्त देवताओं के रुष्ट (नाराज) हो जाने पर तो व्यक्ति की गुरु रक्षा कर लेता है, किन्तु गुरु के रुष्ट हो जाने पर उसको बचाने वाला दूसरा कोई नहीं है। अतः इस विषय को पूरी तरह से मन में बैठा कर व्यक्ति को सभी तरह से गुरु की शरण में जाने का ही प्रयत्न करना चाहिये।

इस प्रसंग में यह वचन स्मरणीय है — "गुरु गोविन्द दोनों खड़े काको लागूँ पाँय। बलिहारी गुरु आपनी गोविन्द दियो मिलाय।।" इस विषय की चर्चा पहले ४४ वें श्लोक में हो चुकी है। इस प्रकार शास्त्रों में और लोकभाषा साहित्य में भी गुरु की अपार महिमा का वर्णन मिलता है।।७९।।

गुरुरेव जगत्सर्वं ब्रह्मविष्णुशिवात्मकम् ।
गुरोः परतरं नास्ति तस्मात् सम्पूजयेद् गुरुम् ।।८०।।

ब्रह्मा, विष्णु और शिवात्मक यह सारा जगत्, अर्थात् इनके द्वारा सृष्ट, पालित और संहृत होने वाला यह सारा संसार गुरुस्वरूप ही है, गुरु से किसी भी प्रकार से भिन्न नहीं है। यतः इस संसार में गुरु से बढकर दूसरा कोई तत्त्व नहीं है, अतः व्यक्ति को चाहिये कि वह सदा गुरुपादुका की सेवा में लगा रहे।।८०।।

ज्ञानं विज्ञानसहितं लभ्यते गुरुभक्तितः ।
गुरोः परतरं नास्ति ध्येयोऽसौ गुरुमार्गिभिः ।।८१।।

विज्ञानसहित ज्ञान गुरु की भक्ति करने से ही मिलता है। इसलिये गुरु से बढ कर कोई दूसरा नहीं है। गुरुमार्गी का, गुरु को ही सब कुछ मान कर उनकी सेवा करने वाले श्रद्धालुओं का यह परम कर्तव्य है कि वे उस गुरु का ही सब प्रकार से ध्यान करें।

''मोक्षे धीर्ज्ञानमन्यत्र विज्ञानं शिल्पशास्त्रयोः'' (१.५.६) अमरकोश के इस वचन के अनुसार मोक्षविषयिणी बुद्धि को ज्ञान कहा गया है। ज्ञान मनुष्य की आन्तर भावनाओं को टटोलता है और विज्ञान बाहरी चकाचौंध में भटकता रहता है। आज अध्यात्म और विज्ञान में समन्वय की बात उठने लगी है। हमने अन्यत्र[1] बताया है कि विभिन्न भारतीय धर्मों में समन्वय का मार्ग आगम और तन्त्रशास्त्र ने खोल दिया है। वही विज्ञान और अध्यात्म में समन्वय भी स्थापित कर सकता है।।८१।।

यस्मात् परतरं नास्ति नेति नेतीति वै श्रुतिः।
मनसा वचसा चैव नित्यमाराधयेद् गुरुम् ।।८२।।

यतः गुरुपादुका से बढकर कोई दूसरा तत्त्व नहीं है, श्रुति भी ''नेति नेति'' कहकर इस बात की पुष्टि करती है, अतः मन और वचन से गुरुपादुका की नित्य आराधना करनी चाहिये।

''नेति नेति'' (बृह० ३.९.२६, ४.२.४, ४.४.२२) यह वाक्य बृहदारण्यक उपनिषद् में तीन बार आया है। अन्य उपनिषदों में भी यह मिलता है। यहाँ सभी स्थूल बाह्य स्वरूपों का तथा सूक्ष्म आन्तर स्वरूपों का निषेध कर आत्मा के स्वरूप को निखारा गया है।।८२।।

गुरोः कृपाप्रसादेन ब्रह्मविष्णुसदाशिवाः ।
समर्थाः प्रभवादौ च केवलं गुरुसेवया ।।८३।।

---

१. गुह्यादि-अष्टसिद्धिसंग्रह, उपोद्घात, पृ. ५३-५४ देखिये। दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थमाला, केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी।

एकमात्र गुरु की उपासना करने से मिली गुरु की कृपा के प्रसाद से ही ब्रह्मा, विष्णु और सदाशिव क्रमशः सृष्टि-स्थिति-संहार रूप अपने अपने कार्यों को करने में समर्थ हो पाते हैं।

सदाशिव शब्द यहाँ सामान्यतः भगवान् शिव के लिये प्रयुक्त है। छन्दों में अक्षरों अथवा मात्राओं की संख्या नियत रहती है। ह्रस्व-दीर्घ के नियम का भी पालन करना पड़ता है। अनुष्टुप् छन्द के प्रत्येक पाद (चरण) में आठ अक्षर होते हैं। शिव शब्द का प्रयोग करने पर यहाँ अक्षर छः ही रह जायंगे, किन्तु छन्द के अक्षरों की पूर्ति तो शिव के पर्यायवाची महेश्वर शब्द से भी हो सकती है। तब यहाँ सदाशिव शब्द के प्रयोग का प्रयोजन हमें ढूँढना होगा। तन्त्रशास्त्र में इसका सही उत्तर मिलता है। वहाँ भगवान् सदाशिव ही सभी शास्त्रों के उपदेष्टा माने गये हैं। ब्रह्मा के द्वारा उत्पन्न की गई प्रजा का पालन विष्णु अवश्य करते हैं, किन्तु भगवान् के निग्रह (तिरोधान) व्यापार से मुक्त कर साधक में अनुग्रह (शक्तिपात) शक्ति को जगाने का मार्ग गुरु की कृपा होने पर सदाशिव द्वारा उपदिष्ट शास्त्रों के रहस्य को जान लेने पर ही खुल सकता है। स्पष्ट है कि प्रस्तुत श्लोक में 'सदाशिव' शब्द का प्रयोग इसी विशेष अर्थ का बोध कराने के लिये किया गया है।।८३।।

देवकिन्नरगन्धर्वाः पितरो यक्षचारणाः ।
मुनयोऽपि न जानन्ति गुरुशुश्रूषणे विधिम् ।।८४।।

देवगण, किन्नर और गन्धर्वगण, पितृगण, यक्ष, चारण और मुनिगण — ये सब गुरु की सेवा किस प्रकार की जाती है, इसकी विधि को भलीभाँति नहीं जानते। इसका अभिप्राय यह है कि गुरु स्वयं ही इसकी जानकारी दे सकते हैं।।८४।।

महाहङ्कारगर्वेण तपोविद्याबलान्विताः ।
संसारकुहरावर्ते घटयन्त्रे यथा घटाः ।।८५।।

अपने तप, विद्या और बल के गर्व में डूबे हुए बड़े-बड़े अहंकारी मनुष्य इस संसार रूपी कुहर (गर्त) में उसी तरह से बार-बार डूबते-उतराते रहते हैं, जैसे कि घटयन्त्र (अरहट्ट=रहट) में लगे हुए घट कूपरूपी गर्त में डूबते-उतराते हैं।

घटयन्त्र शब्द का प्रयोग यहां कूप, वापी आदि से पानी निकालने के लिये बनाई गई घड़ों की शृंखला के लिये किया गया है। लोकभाषा में यह रहट के नाम से प्रसिद्ध है। बैलों की सहायता से यह घट-शृंखला नीचे-ऊपर चलती रहती है। इस घटयन्त्र के घड़े जैसे लगातार कूप आदि के जल में डूबने-उतराते रहते हैं, उसी तरह यह अज्ञानी जीव भी गुरु के उपदेश के बिना अन्धेरे कूप के सदृश इस अज्ञान के कुहरे से ढंके हुए संसार में डूबते-उतराते रहते

हैं, निरन्तर नाना योनियों में आवागमन के चक्कर में पड़े रहते हैं, उनका जन्म-मरण का चक्कर कभी थमता नहीं।।८५।।

न मुक्ता देवगन्धर्वाः पितरो यक्षकिन्नराः ।
ऋषयः सर्वसिद्धाश्च गुरुसेवापराङ्मुखाः ।।८६।।

भले ही वह कोई देवता हो, गन्धर्व हो, पितृगण हों, यक्ष अथवा किन्नर हो, ऋषिगण हों या सिद्धगण, यदि ये सब गुरुपादुका की सेवा से पराङ्मुख हैं, गुरु की उपासना नहीं करते, तो यह निश्चित है कि उनमें से किसी को भी संसार-सागर से कभी भी मुक्ति नहीं मिल सकती।।८६।।

ध्यानं शृणु महादेवि सर्वानन्दप्रदायकम् ।
सर्वसौख्यकरं नित्यं भुक्तिमुक्तिविधायकम् ।।८७।।

हे महादेवि ! अब तुम इस गुरुतत्त्व के ध्यान को सुनो। यह गुरुपादुका का ध्यान सभी प्रकार के आनन्दों को देने वाला है, सभी प्रकार के सांसारिक सुखों को देने वाला है। यह भुक्ति (ऐहिक भोगैश्वर्य) और मुक्ति (मोक्ष, कैवल्य, निर्वाण) को भी देने वाला है।

शैव दर्शन के भोजदेव विरचित ग्रन्थ तत्त्वप्रकाश की टीका में कुमारदेव ने आनन्द और सुख (प्रीति) शब्दों के अर्थ की भिन्नता[१] पर अच्छा प्रकाश डाला है। तदनुसार यहाँ सांसारिक सुख और अलौकिक आनन्द में भेद का प्रदर्शन करने के लिये ही आनन्द और सुख शब्द का अलग-अलग प्रयोग किया गया है। अभिनवगुप्त अपने लघुग्रन्थ तन्त्रसार में संक्षेप से तथा बृहद् ग्रन्थ तन्त्रालोक में विस्तार से छः प्रकार के आनन्दों[२] का वर्णन करते हैं। बौद्ध तन्त्रों में प्रथमतः आनन्द के चार भेद कर पुनः इनमें से प्रत्येक के चार-चार भेद कर सोलह प्रकार के आनन्द[३] बताये गये हैं। सर्वानन्द शब्द से हम इन सभी प्रकार के आनन्दों का ग्रहण कर सकते हैं।।८७।।

---

१. "विषयेन्द्रियसम्प्रयोगजन्यानित्यसातिशयसुखं प्रीतिशब्देनोच्यते, सततरूपनित्य-निरतिशयात्मस्वभावसुखमानन्दशब्दवाच्यम्" (पृ. ६)। सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी से सन् १९८८ में प्रकाशित अष्टप्रकरण द्रष्टव्य ।

२. निजानन्द, निरानन्द, परानन्द, ब्रह्मानन्द, महानन्द और चिदानन्द नामक छः आनन्दों का विवरण तन्त्रसार (काश्मीर संस्करण, पृ. ३८-३९) और तन्त्रालोक (५.४४-५२) में देखा जा सकता है।

३. चतुर्विध तथा सोलह प्रकार के आनन्दों का विवरण सेकोद्देशटीका, हेवज्रतन्त्र आदि के प्रमाण से "बौद्ध तन्त्रकोश" (पृ. १४-१५, १२६) में संगृहीत है। (दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थमाला, सारनाथ, वाराणसी, सन् १९९०)।

श्रीमत्परब्रह्म गुरुं स्मरामि
श्रीमत्परब्रह्म गुरुं वदामि ।
श्रीमत्परब्रह्म गुरुं नमामि
श्रीमत्परब्रह्म गुरुं भजामि ।।८८।।

मैं श्रीमान् परम ब्रह्म स्वरूप गुरुदेव का स्मरण करता हूँ, परम ब्रह्म स्वरूप गुरुदेव का ही सदा गुणगान करता हूँ, उन्हीं का नमन करता हूँ और परब्रह्म से अभिन्न रूप में स्थित, अर्थात् पर ब्रह्म स्वरूप गुरु का ही सदा भजन करता हूँ।।८८।।

ब्रह्मानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिं
द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम् ।
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षिभूतं
भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं तं नमामि ।।८९।।

मैं उस सद्गुरु को नमन करता हूँ, जो ब्रह्मानन्द के और मोक्षपदवी रूप परम सुख के दाता हैं, केवल ज्ञानमूर्ति के रूप में ही जिनका साक्षात्कार किया जा सकता है, जो सभी प्रकार के सुख-दुःख, शीत-ताप आदि द्वन्द्वों से अतीत हैं, अर्थात् जिनको ये द्वन्द्व किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचाते। ये गुरुदेव आकाश के समान सर्वाधार स्वरूप हैं, इनका कोई ओर-छोर नहीं मिल सकता। "तत्त्वमसि" (छान्दोग्य० ६.८.७) इत्यादि उपनिषदों के महावाक्यों से ही इनको पहचाना जा सकता है। ये एक, नित्य, विमल (स्वच्छ), अचल (अकम्प्य) हैं और सभी प्राणियों की बुद्धि में साक्षी के रूप में स्थित हैं। सभी प्रकार के सांसारिक भावों से अतीत हैं और सत्त्व, रज और तम नामक तीनों गुणों से भी अतीत हैं।।८९।।

नित्यं शुद्धं निराभासं निराकारं निरञ्जनम् ।
नित्यबोधं चिदानन्दं गुरुं ब्रह्म सनातनम् ।।९०।।

नित्य, शुद्ध, निराभास, निराकार, निरंजन, नित्य बोधस्वरूप, चिदानन्दमय, ब्रह्मस्वरूप में प्रतिष्ठित गुरुदेव के प्रति मैं प्रणत हूँ।।९०।।

हृदम्बुजे कर्णिकामध्यसंस्थे
सिंहासने संस्थितदिव्यमूर्तिम् ।
ध्यायेद् गुरुं चन्द्रकलाप्रकाशं
चित्पुस्तकाभीष्टवरं दधानम् ।।९१।।

हृदय रूपी कमल की कर्णिका के मध्य में स्थित सिंहासन पर विराजमान दिव्यमूर्ति गुरुदेव का ध्यान करना चाहिये। ये गुरुदेव भगवान् शिव के समान ही चन्द्रमा की कला से प्रकाशित हैं और ज्ञान की प्रतीक पुस्तक के साथ भक्त को अभीष्ट वर प्रदान करने वाली वरद मुद्रा को धारण किये हुए हैं, अर्थात् अपनी ज्ञानशक्ति की सहायता से ये अपने भक्त के सभी मनोरथों को पूरा करते हैं।।९१।।

श्वेताम्बरं श्वेतविलेपपुष्पं
मुक्ताविभूषं मुदितं द्विनेत्रम् ।
वामाङ्कपीठस्थितदिव्यशक्तिं
मन्दस्मितं सान्द्रकृपानिधानम् ।।९२।।

श्वेत (सफेद=स्वच्छ) वस्त्रधारी, श्वेत चन्दन (भस्म) और श्वेत पुष्पों से सुशोभित, मोतियों की माला से विभूषित, प्रसन्नवदन, दो नेत्र वाले, वाम अंक रूपी पीठ, अर्थात् बाई तरफ गोद में जिनके दिव्य शक्ति विराजमान है, उस गुरुतत्त्व को, जो अपनी मन्द मुस्कान से सारे जगत् को आह्लादित कर देने वाला है और महती कृपाशक्ति का खजाना है, मैं भक्ति-भावपूर्वक नमन करता हूँ।

यहाँ भगवान् शिव से गुरुतत्त्व की तुलना की गई है। अन्तर केवल इतना ही है कि भूतभावन शिव त्रिनेत्रधारी हैं और मानव शरीरधारी गुरु के दो ही नेत्र हैं। अथवा इस श्लोक में "द्विनेत्रम्" के स्थान "त्रिणेत्रम्" ही पाठ रखा जा सकता है। दो चर्मचक्षु और एक ज्ञाननेत्र के कारण गुरु भी त्रिनेत्रधारी हैं।।९२।।

आनन्दमानन्दकरं प्रसन्नं
ज्ञानस्वरूपं निजबोधयुक्तम् ।
योगीन्द्रमीड्यं भवरोगवैद्यं
श्रीमद्गुरुं नित्यमहं नमामि ।।९३।।

स्वयं आनन्दस्वरूप और दूसरों को भी आनन्द देने वाले, सदा प्रसन्न मुखमुद्रा वाले, ज्ञानस्वरूप, निजबोध से सम्पन्न, श्रेष्ठ योगियों के द्वारा वन्द्यमान, संसाररूपी रोग के एकमात्र चिकित्सक उन श्री सम्पन्न गुरु को मैं सदा प्रणाम करता हूँ।।९३।।

यस्मिन् सृष्टिस्थितिध्वंसनिग्रहानुग्रहात्मकम् ।
कृत्यं पञ्चविधं शश्वद् भासते तं नमाम्यहम् ।।९४।।

जिस गुरुमूर्ति में सृष्टि, स्थिति, ध्वंस (संहार), निग्रह (तिरोभाव) और अनुग्रह रूप पांच प्रकार के कृत्य सदा भासित होते रहते हैं, उन गुरुदेव को मैं प्रणाम करता हूँ।

शैव और शाक्त आगमों के अनुसार यहाँ भगवान् के पंचविध कृत्यों का उल्लेख किया गया है। शाक्त आगम की एक शाखा क्रममत में सृष्टि, स्थिति और संहार के अतिरिक्त अनाख्या तथा भासा नामक पांच कृत्यों का तथा पांचरात्र वैष्णव आगम में भोग और कैवल्य का परिगणन किया गया है। इस प्रसंग में सात्वतसंहिता के उपोद्घात (पृ. ३१, टि. २) का अवलोकन किया जा सकता है।।९४।।

प्रातः शिरसि शुक्लाब्जे द्विनेत्रं द्विभुजं गुरुम्।
वराभययुतं शान्तं स्मरेत् तं नामपूर्वकम् ।।९५।।

प्रात:काल मस्तक में विद्यमान श्वेत सहस्रार कमल में विराजमान दो नेत्र और दो भुजाओं वाले मनुष्य रूप धारी गुरु का नमन करते हुए नामग्रहणपूर्वक स्मरण करना चाहिये। ये गुरुदेव वर और अभय मुद्रा से सुशोभित हैं, अर्थात् सभी प्राणियों का मनोरथ पूरा करने की तथा अभय दान करने की सामर्थ्य इनमें है।

योगिनीहृदय की दीपिका टीका में उद्धृत अद्यावधि अनुपलब्ध ग्रन्थ स्वच्छन्दसंग्रह में शरीर-स्थित बत्तीस चक्रों का उल्लेख किया गया है। इनमें से प्रथम मूलाधार स्थित ऊर्ध्वमुख रक्तवर्ण सहस्रदल वाला चक्र है और अन्तिम मस्तक स्थित सहस्रार स्थान में सहस्रदल श्वेत कमल की स्थिति मानी गयी है। इन दोनों ऊर्ध्वमुख और अधोमुख सहस्रदल कमलों के बीच में भिन्न-भिन्न स्थानों पर ३० अन्य चक्र विद्यमान हैं। खेद है कि इन सब चक्रों का वर्णन करने वाला उक्त ग्रन्थ का पूरा भाग वहाँ उद्धृत नहीं किया गया। त्रिपुरा सम्प्रदाय में स्वीकृत नौ चक्रों का स्वरूप ही वहाँ वर्णित है। हमारे द्वारा किये गये हिन्दी भाषानुवाद के साथ प्रकाशित इस ग्रन्थ में इनका वर्णन देखा जा सकता है। शेष चक्रों का ज्ञान तो हमें मूल ग्रन्थ की उपलब्धि पर ही हो सकता है, जिसके कि मिलने की संभावना दक्षिण भारत और कश्मीर में अधिक है। अस्तु, प्रस्तुत श्लोक में मस्तिष्क स्थित शुक्लाब्ज ही गुरुदेव का निवास-स्थान निर्दिष्ट है।।९५।।

न गुरोरधिकं न गुरोरधिकं
न गुरोरधिकं न गुरोरधिकम्।
शिवशासनतः शिवशासनतः
शिवशासनतः शिवशासनतः ।।९६।।

शिव के शासन (उपदिष्ट शास्त्र) के अनुसार, शिव के शासन के अनुसार, शिव के शासन के अनुसार, शिव के शासन के अनुसार मेरा यह कहना है कि गुरु से बढकर कोई दूसरा नहीं है, गुरु से बढ-चढ कर कोई नहीं है, गुरु से बढकर कोई नहीं है, गुरु से बढकर कोई नहीं है।

यहां "न गुरोरधिकम्" और "शिवशासनतः" पदों की चार बार आवृत्ति की गई है। यास्क मुनिकृत निरुक्त का कथन है — "अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते" (१०.४.४२), अर्थात् किसी पद की आवृत्ति, अभ्यास करने से उसके अर्थ में गहराई आ जाती है, दृढता आ जाती है। इस प्रकार प्रस्तुत श्लोक में और अगले श्लोक में भी पूरी दृढता के साथ यही कहा गया है कि शैव शास्त्रों के अनुसार गुरु से बढकर कुछ भी नहीं है।।९६।।

इदमेव शिवं त्विदमेव शिवं
त्विदमेव शिवं त्विदमेव शिवम् ।
मम शासनतो मम शासनतो
मम शासनतो मम शासनतः ।।९७।।

मनुष्य का इसी में कल्याण है, इसी में मनुष्य का कल्याण है, मनुष्य का कल्याण इसी में है, मनुष्य का कल्याण इसी में है कि वह सदा गुरुपादुका की आराधना करता रहे। यही मेरा शासन है, यही मेरा कथन है, यही मेरा कथन है, यही मेरा कहना है।।९७।।

एवंविधं गुरुं ध्यात्वा ज्ञानमुत्पद्यते स्वयम् ।
तत् सद्गुरुप्रसादेन मुक्तोऽहमिति भावयेत् ।।९८।।

ऊपर वर्णित स्वरूप वाले गुरु का ध्यान करने से ज्ञान अपने आप उत्पन्न हो जाता है। इस लिये सद्गुरु के प्रसाद से मैं मुक्त हो गया हूँ, ऐसी भावना मुमुक्षु को करनी चाहिये।।९८।।

गुरुदर्शितमार्गेण मनःशुद्धिं तु कारयेत् ।
अनित्यं खण्डयेत् सर्वं यत्किञ्चिदात्मगोचरम् ।।९९।।

साधक को चाहिये कि वह अपने गुरु के द्वारा दिखाये गये मार्ग से अपने मन को शुद्ध करने का प्रयास करता रहे। इसके लिये यह आवश्यक है कि जो कुछ भी अपनी आत्मा में भासित हो रहा है, उसमें से अनित्यता को निकाल दिया जाय, अर्थात् यह सब कुछ शिवमय है, ऐसी भावना की जाय। इसका अभिप्राय यह है कि संसार की प्रत्येक वस्तु शिवमय है[१], इसी लिये गुरुमय भी है। ऐसी स्थिति में किसी भी पदार्थ में अनित्यता कैसे रह सकती है, अतः यहाँ की प्रत्येक वस्तु के अनित्य स्थूल रूप को परे कर उसमें नित्य शिवभाव की भावना करनी चाहिये। यही प्रस्तुत श्लोक का प्रतिपाद्य है।।९९।।

---

१. इस विषय का विस्तार विज्ञानभैरव की हिन्दी व्याख्या (पृ. १२३-१२६) में देखिये। मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली-वाराणसी, द्वितीय संस्करण, सन् १९८४

ज्ञेयं सर्वस्वरूपं च ज्ञानं च मन उच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयसमं कुर्यान्नान्यः पन्था द्वितीयकः ।।१००।।

यह सारा नामरूपात्मक जगत् शिवमय है और मन इसके ज्ञान का साधन है। यह सारा जगत् बाह्य रूप में ज्ञेयस्वरूप है, अत: सर्वत्र शिवमयता का मानसिक साक्षात्कार का ज्ञान (मन) और ज्ञेय (जगत्) की एकाकारता, विज्ञानात्मकता का दर्शन करना आवश्यक है। इसके सिवाय मुक्तिलाभ का दूसरा कोई मार्ग नहीं है।

प्रस्तुत श्लोक में ज्ञान और ज्ञेय की अभिन्नता का प्रतिपादन किया गया है। विज्ञानभैरव नामक काश्मीरी योगशास्त्र के ग्रन्थ में इस सारे जगत् को विज्ञानात्मक भैरव का ही विलास माना गया है। प्रस्तुत श्लोक में भी इस सारे जगत् को ज्ञेय तथा मन (विज्ञान) को ज्ञान मानकर यह उपदेश दिया गया है कि ज्ञान को ज्ञेय के समान किया जाय। इसका अभिप्राय यह है कि प्रत्येक ज्ञेय पदार्थ में ज्ञान की सत्ता को स्वीकार किया जाय। स्वच्छन्दतन्त्र (४.३१३) में भी इस सारे जगत् को शिवस्वरूप ही माना गया है। वहाँ इस बात को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि "यह चंचल मन जहाँ कहीं भी जाता है, जिस किसी विषय का चिन्तन करता है, सर्वत्र शिवस्वरूप को देखने का प्रयत्न करना चाहिये। इस प्रकार ज्ञान और ज्ञेय की एकाकारता हो जाती है"। "ज्ञानस्वरूपमखिलं जगदेतदबुद्धयः। अर्थस्वरूपं पश्यन्तो भ्राम्यन्ते मोहसम्प्लवे।।" (१.४.४०) विष्णुपुराण के इस वचन का भी यही अभिप्राय है।।१००।।

एवं श्रुत्वा महादेवि गुरुनिन्दां करोति यः ।
स याति नरकं घोरं यावच्चन्द्रदिवाकरौ ।।१०१।।

हे महादेवि ! मेरे द्वारा दिये गये इस सारे उपदेश को सुनने के बाद भी जो व्यक्ति गुरु की निन्दा करता है, वह जब तक इस धरती पर सूर्य और चन्द्रमा विराजमान हैं, तब तक के लिये घोर नरक में निवास करता है।।१०१।।

यावत् कल्पान्तको देहस्तावदेव गुरुं स्मरेत् ।
गुरुलोपो न कर्तव्यः स्वच्छन्दो यदि वा भवेत् ।।१०२।।

जिस क्षण तक यह देह स्थित है, तब तक गुरु का स्मरण अवश्य करते रहना चाहिये। यदि व्यक्ति स्वच्छन्दाचारी हो जाय, अर्थात् अवधूतावस्था में पहुँच जाय, तब भी गुरुसेवा का लोप कभी नहीं करना चाहिये। इसका अभिप्राय यह है कि अवधूतावस्था या सिद्धावस्था में पहुँच जाने पर व्यक्ति के लिये कोई कर्तव्य कर्म नहीं बचा रहता, अर्थात् वह सभी प्रकार के कर्मकाण्डों से ऊपर उठ जाता है। ऐसी अवस्था में भी उस अवधूत सिद्ध को गरु का स्मरण तो अवश्य ही करना चाहिये।।१०२।।

हुङ्कारेण न वक्तव्यः प्राज्ञैः शिष्यैः कथञ्चन ।
गुरोरग्रे न वक्तव्यमसत्यं च कदाचन ।।१०३।।

बुद्धिमान् शिष्य को कभी भी गुरु के प्रति अहंकार भरे शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिये और गुरु के सामने कभी असत्य वचन भी नहीं बोलना चाहिये।।१०३।।

गुरुं त्वङ्कृत्य हुङ्कृत्य गुरुं निर्जित्य वादतः ।
अरण्ये निर्जने देशे स भवेद् ब्रह्मराक्षसः ।।१०४।।

गुरु के प्रति तू, तुम इत्यादि ओछे शब्दों का और अहंकार से भरे शब्दों का प्रयोग करने वाला तथा शास्त्रार्थ में गुरु को हराकर सन्तुष्ट होने वाला व्यक्ति घने जंगल के निर्जन प्रदेश में ब्रह्मराक्षस के रूप में जन्म लेता है।।१०४।।

मुनिभिः पन्नगैर्वाऽपि सुरैर्वा शापितो यदि ।
कालमृत्युभयाद् वापि गुरू रक्षति पार्वति ।।१०५।।

हे पार्वति ! जो व्यक्ति मुनिगण, सर्पगण या देवगण से शापित है, अथवा जिसके सामने काल और मृत्यु का भय उपस्थित है, गुरुदेव उसकी भी रक्षा करते हैं।

नित्याषोडशिकार्णव के ''कालमृत्युयमादिभिः'' (५.३३) इस वचन की व्याख्या करते हुए ऋजुविमर्शिनीकार शिवानन्द ने काल का अर्थ आयु की गणना करनेवाला समय, मृत्यु का मारयिता और यम का अर्थ उपरमयिता (नियामक) किया है और इसके प्रमाण में निम्न श्लोक को उद्धृत किया है —

कालो मृत्युर्यमो व्याधिस्तत्त्वतस्त्वेक एव तु ।
वृत्त्यन्तरविशेषेण पर्यायेणाभिधीयते ।।
सर्वावच्छेदकः कालो मृत्युर्मारयिता च सः ।
यमनाद्यम एवायं व्याधिश्चिन्ताप्रदो हि सः ।। (पृ. २७३)

काल की सर्वावच्छेदकता सर्वत्र प्रसिद्ध है। यम की नियामकता का अथवा पाप से उपरत करने की प्रवृत्ति का मनुस्मृति के निम्न श्लोक में सुन्दर वर्णन है —

यमो वैवस्वतो देवो यस्तवैष हृदि स्थितः ।
तेन चेदविवादस्ते मा गङ्गां मा कुरून् गमः ।। ८.९२।।

अर्थात् विवस्वान् के पुत्र जो यम देवता तुम्हारे हृदय में स्थित हैं, इनसे यदि तुम्हारा विवाद नहीं है, तो फिर गंगा-स्नान के लिये जाने की या कुरुक्षेत्र की यात्रा करने की कोई आवश्यकता नहीं है। प्रत्येक मनुष्य के अनुभव का यह विषय है कि असत्कर्म में प्रवृत्त होने

पर भीतर से कोई उसे रोकता है। आधुनिक मनोविज्ञान उसे आन्तर मन की संज्ञा देता है। आन्तर और बाह्य मन में द्वन्द्व चलता है और प्रायः बाह्य मन आन्तर मन की बात को नहीं मानता। स्मृतिकार का यहाँ यह कहना है कि यदि तुम हृदयस्थित, सबका नियमन करने वाले अन्तर्यामी की बात मान लेते हो, तो तुम्हारी कभी पाप-कर्म में प्रवृत्ति ही नहीं होगी और जब पाप कर्म में प्रवृत्ति नहीं होगी, तब किसको धोने के लिये गंगास्नान आदि किया जायगा? स्पष्ट है कि बाह्य शुद्धि की अपेक्षा स्मृतिकार को आन्तर शुद्धि अभीष्ट है। आगम और तन्त्रशास्त्र का तथा इनसे अनुप्राणित सिद्धों, सन्तों, नाथों और गुरुओं का मानव जाति के प्रति यही संदेश है। आज इस संदेश को हम भुला बैठे हैं।।१०५।।

अशक्ता हि सुराद्याश्च अशक्ता मुनयस्तथा ।
गुरुशापेन ते शीघ्रं क्षयं यान्ति न संशयः ।।१०६।।

इसके विपरीत गुरु के आक्रोश से रक्षा करने में देव, गन्धर्व, यक्ष आदि तथा मुनिगण भी पूरी तरह से असमर्थ हैं। गुरुशाप तो इन सबको भी तत्क्षण नष्ट कर सकता है, इसमें किसी प्रकार का सन्देह साधक को नहीं पालना चाहिये। अभिप्राय यह है कि जब देवगण, मुनिगण आदि की यह स्थिति है, तो फिर पामर मनुष्य की गुरु के आक्रोश को सहन करने की सामर्थ्य आ ही कैसे सकती है?।।१०६।।

मन्त्रराजमिदं देवि गुरुरित्यक्षरद्वयम् ।
स्मृतिवेदार्थवाक्येन गुरुः साक्षात् परं पदम् ।।१०७।।

हे देवि ! 'गुंरु' पद में स्थित 'गु' और 'रु' ये दो अक्षर सभी मन्त्रों में श्रेष्ठ हैं, अर्थात् 'गुरु' पद से बढकर अन्य कोई मन्त्र श्रेष्ठ नहीं है। नाना प्रकार की स्मृतियों से और उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, भगवद्गीता आदि में उपदिष्ट वेदान्त-वाक्यों से भी यह विषय स्पष्ट हो जाता है कि गुरुदेव ही साक्षात् परम पद हैं, परब्रह्मावस्था-प्राप्ति रूप मोक्षपदवी से अभिन्न हैं।।१०७।।

श्रुतिस्मृतिमविज्ञाय केवलं गुरुसेवकाः ।
ते वै संन्यासिनः प्रोक्ता इतरे वेषधारिणः ।।१०८।।

श्रुति (वेद) और स्मृति (धर्मशास्त्र) को पूरी तरह से समझे बिना भी जो व्यक्ति केवल गुरु की सेवा में लगे रहते हैं, वे ही वास्तव में संन्यासी हैं। इसका अभिप्राय यह है कि जिन्होंने नाना प्रकार के शब्दों के विकल्पजाल को छोड़ दिया है, वे ही वास्तविक संन्यासी हैं। इनसे भिन्न व्यक्ति तो केवल संन्यासी का वेष धारण करते हैं, अर्थात् वे वास्तविक संन्यासी नहीं हैं।

अपने गुरु के प्रति अनन्य श्रद्धा के कारण वेद और स्मृति जैसे पवित्र ग्रन्थों को भी शब्दों का विकल्पजाल मानकर जो व्यक्ति इनका भी परित्याग कर देता है, वास्तव में वही संन्यासी है। मैंने इस नश्वर संसार का परित्याग कर दिया है, इसका दिखावा करने के प्रयोजन से जो मात्र संन्यासी का वेष धारण कर लेते हैं, वे वास्तव में संन्यासी नहीं होते। उनका मन इसके लिये कभी तैयार नहीं होने पाता, त्याग की भावना वास्तव में उनके मन में पनपती ही नहीं।।१०८।।

नित्यं ब्रह्म निराकारं निर्गुणं बोधयेत् परम् ।
सर्वं ब्रह्म निराभासं दीपो दीपान्तरं यथा ।।१०९।।

जिस प्रकार एक दीपक से दूसरा दीपक जलाया जाता है, उसी तरह से गुरुगत नित्य, निराकार, निर्गुण, निराभास[1] परब्रह्म का बोध उसकी कृपा होने पर शिष्य में संक्रान्त हो जाता है, अर्थात् गुरु सच्छिष्य को अपने सारे ज्ञान का बोध करा देता है।

"दीपो दीपान्तरं यथा" यहाँ प्रयुक्त इस पदावली का प्रयोग "न कारणात् स्वाद् विभिदे कुमार: प्रवर्तितो दीप इव प्रदीपात्" (५.३७) इस प्रकार रघुवंश महाकाव्य में और "कारणात् प्रसृतं न्यासं दीपाद् दीपमिवोदितम्" (३.८०) इस प्रकार योगिनीहृदय में हुआ है। इन वचनों से कारण से कार्य के सादृश्य की प्रतीति होती है। गुरु की कृपा से ही इस सादृश्य का बोध हो सकता है। इसका संक्षिप्त अभिप्राय यह है कि जैसे एक दीपक से दूसरा दीपक जलाया जाता है, उसी तरह से गुरु का बोध शिष्य में संक्रान्त हो जाता है।।१०९।।

गुरोः कृपाप्रसादेन आत्मारामं[2] निरीक्षयेत् ।
अनेन गुरुमार्गेण स्वात्मज्ञानं प्रवर्तते ।।११०।।

गुरुदेव की कृपा के प्रसाद से ही साधक अपनी आत्मा में छिपे हुए आनन्द के उल्लास का साक्षात्कार कर सकता है। गुरु के द्वारा प्रदर्शित मार्ग का सहारा लेने पर ही वह अपने स्वरूप को जान पाता है।।११०।।

---

१. आभास का अर्थ प्रतीति होता है। दर्पण में जैसे प्रतिबिम्ब की प्रतीति होती है, उसी तरह से यह जगत् भी आभास मात्र सार है। आचार्य सुरेश्वर के दक्षिणामूर्तिस्तोत्र के प्रथम श्लोक में सारे विश्व को दर्पण में दृश्यमान नगरी के तुल्य बता कर आभासवाद को स्पष्ट किया गया है। ब्रह्म में ही दर्पण में प्रतिबिम्ब के समान सारे विश्व की प्रतीति होती है, अत: यह सारा जगत् साभास है और ब्रह्म निराभास ।

२. सामान्यत: अपनी आत्मा में रमण करने वाले, उसमें लीन रहने वाले, आत्मज्ञान से तृप्त, अपनी आत्मा को उपवन समझने वाले साधक के लिये यह शब्द प्रयुक्त होता है। प्रस्तुत स्थल में इसका अर्थ है अपने भीतर छिपा हुआ आनन्द ।

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं परमात्मस्वरूपकम् ।
स्थावरं जङ्गमं चैव प्रणमामि जगन्मयम् ।।१११।।

ब्रह्मा से लेकर सामान्य तृण-लता पर्यन्त सभी पदार्थ परमात्मा के ही स्वरूप हैं। स्थावर और जंगमात्मक इस सारे जगत् के रूप में विद्यमान उस विश्वमय परमात्मा को मैं प्रणाम करता हूँ।।१११।।

वन्देऽहं सच्चिदानन्दं भेदातीतं सदा गुरुम् ।
नित्यं पूर्णं निराकारं निर्गुणं स्वात्मसंज्ञितम् ।।११२।।

सत्, चित् और आनन्द स्वरूप, सभी प्रकार के भेदों से अतीत, नित्य, पूर्ण, निराकार, निर्गुण एवं सभी प्राणियों की आत्मा में सदा विद्यमान गुरुदेव को मैं प्रणाम करता हूँ।।११२।।

परात् परतरं ध्येयं नित्यमानन्दकारकम् ।
हृदयाकाशमध्यस्थं शुद्धस्फटिकसन्निभम् ।।११३।।

पर से भी परतर, श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठतर, ध्येयस्वरूप, नित्य आनन्द को देने वाले, हृदयरूपी दहराकाश के मध्य में स्थित, शुद्ध स्फटिक के समान निर्मल स्वरूप वाले गुरुदेव को मैं प्रणाम करता हूँ।।११३।।

स्फटिकप्रतिमारूपं दृश्यते दर्पणे यथा ।
तथात्मनि चिदाकारमानन्दं सोऽहमित्युत ।।११४।।

स्वच्छ स्फटिक शिला से निर्मित प्रतिमा (मूर्ति) का स्वरूप जैसे स्वच्छ दर्पण में अत्यन्त स्वच्छ रूप में प्रतिबिम्बित होता है, उसी तरह से जीवात्मा का चिदाकार आनन्दमय स्वरूप अपनी ही आत्मा में भासित होता है। वास्तव में मैं वही हूँ।।११४।।

अङ्गुष्ठमात्रपुरुषं ध्यायतश्चिन्मयं हृदि ।
तत्र स्फुरति भावो यः शृणु तं कथयाम्यहम् ।।११५।।

चिन्मय, अंगुष्ठ-परिमाण के परम पुरुष का हृदय में ध्यान करते समय जो भाव मन में स्फुरित होता है, उसका मैं वर्णन कर रहा हूँ। तुम उसे सावधानी से सुनो।

इस श्लोक में चिन्मय अंगुष्ठमात्र पुरुष की चर्चा है। कठोपनिषद् (४.१२, ६.१७) और श्वेताश्वतरोपनिषद् (३.१३) में हृदय-पुण्डरीक में अन्तरात्मा के रूप में स्थित अंगुष्ठमात्र पुरुष की चर्चा है। यद्यपि आत्मा का कोई परिमाण नहीं है, तथापि कुछ आचार्य उसे अणु परिमाण का मानते हैं। उस अणु परिमाण का ही बोधक शब्द है अंगुष्ठमात्र, अर्थात् अत्यन्त

सूक्ष्म। अथवा अंगुष्ठ परिमाण वाले हृदय-पुण्डरीक में निवास करने के कारण इसको अंगुष्ठ-परिमाण कहा जाता है। सावित्री और सत्यवान् के उपाख्यान के प्रसंग में महाभारत[१] में भी अंगुष्ठमात्र पुरुष की चर्चा है। वहाँ यह शब्द सूक्ष्म शरीर का वाचक है, जिसका कि वर्णन सांख्यकारिका (४० श्लो.) में किया गया है। जीव का स्थूल शरीर तो नष्ट हो जाता है, उस स्थूल शरीर में स्थित सूक्ष्म शरीर ही संसरण करता है। इस सूक्ष्म शरीर का वाहक पुरुष ही यहाँ अंगुष्ठमात्र पुरुष लाक्षणिक रूप में मान लिया गया है।।११५।।

अगोचरं तथाऽगम्यं नामरूपविवर्जितम् ।
निःशब्दं तद्विजानीयात् स्वभावं ब्रह्म पार्वति ।।११६।।

हे पार्वति ! वह अगोचर तत्त्व है, अगम्य है, नाम और रूप से रहित है। शब्द से भी उसकी प्रतीति नहीं हो सकती, शब्द आदि विषयों से भी वह अतीत है। ब्रह्म के इसी स्वभाव को जानने का सबको प्रयत्न करना चाहिये।।११६।।

यथा गन्धः स्वभावेन कर्पूरकुसुमादिषु ।
शीतोष्णादिस्वभावेन तथा ब्रह्म च शाश्वतम् ।।११७।।

कर्पूर, पुष्प आदि में जैसे स्वाभाविक रूप से गन्ध विद्यमान है, शीत-उष्ण आदि की स्थिति ऋतु के अनुसार जैसे स्वभावतः रहती है अथवा वह्नि, जल आदि में जैसे स्वभावतः उष्णता अथवा शीतलता रहती है, उसी तरह से शाश्वत ब्रह्म का उक्त स्वरूप भी स्वभावतः विद्यमान है। अभिप्राय यह है कि ब्रह्म के इस शाश्वत स्वभाव को ही जानने का प्रयत्न साधक को सदा करते रहना चाहिये।।११७।।

स्वयं तथाविधो भूत्वा स्थातव्यं यत्र कुत्रचित् ।
कीटभ्रमरवत् तत्र ध्यानं भवति तादृशम् ।।११८।।

साधक को जहाँ कहीं भी रहना हो, ब्रह्म के ऊपर वर्णित स्वरूप का ध्यान कर स्वयं भी सदा अपने उसी स्वभाव में स्थित होकर रहना चाहिये। एक सामान्य कीट भ्रमर का ध्यान करते-करते भावना के सहारे जैसे स्वयं भ्रमर बन जाता है, उसी तरह से इस ध्यानभावना के बल से व्यक्ति स्वयं ब्रह्मस्वरूप हो जाता है।

---

१. वनपर्व के २९३-२९९ अध्यायों में यह उपाख्यान वर्णित है। वहाँ का यह श्लोक देखिये — "ततः सत्यवतः कायात् पाशबद्धं वशंगतम् । अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात्।।" (२९७.१७)। गीता प्रेस, गोरखपुर संस्करण ।

जीव किस प्रकार भगवान् का ध्यान करते-करते भगवन्मय हो जाता है, इसके दृष्टान्त के रूप में भ्रमरकीट न्याय का शास्त्रों में वर्णन मिलता है। घर के किसी कोने में घरौंदा बनाकर पल रहे कीट (कीड़ा) को प्राय: हम सब देखते रहते हैं। भ्रमर इस घरौंदे पर बैठता है और गुंजन करता हुआ उसके चक्कर लगाने लगता है। इस भ्रमर के गुंजन को सुनते-सुनते कीट स्वयं भ्रमर बन जाता है। वैसी ही स्थिति यहाँ भी है। जीव शिवभाव की भावना करते करते स्वयं शिव बन जाता है। प्रसिद्ध कश्मीरी विद्वान् सोमानन्द ने शिवदृष्टि में कहा है —

शिवभावनयौषध्या बद्धे मनसि संसृतेः ।
काष्ठकुड्यादिषु क्षिप्ते रसवच्छिवहेमता ।। (७.४७)

इसका अभिप्राय यह है कि नाना प्रकार की औषधियों की भावना देते देते बद्ध पारद जैसे सुवर्ण बन जाता है, उसी तरह से शिवभावना रूपी औषधि की सहायता से अपने मन को वश में कर लेने के बाद साधक की मन:स्थिति ऐसी हो जाती है कि उसे काष्ठ (लकड़ी), कुड्य (दीवाल) आदि में भी शिवभाव का ही बोध होने लगता है। "तत्र तत्र शिवावस्था" (श्लो. ११३), "सर्वं शिवमयं यतः" (४.३१३) इत्यादि विज्ञानभैरव, स्वच्छन्दतन्त्र जैसे ग्रन्थों के प्रमाण से यह सब कुछ शिवमय ही तो है।।११८।।

गुरुध्यानं तथा कृत्वा स्वयं ब्रह्ममयो भवेत् ।
पिण्डे पदे तथा रूपे मुक्तोऽसौ नात्र संशयः ।।११९।।

इस प्रकार की ध्यान की भावना से साधक गुरु का ध्यान कर स्वयं भी ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। ऐसा ब्रह्मभावापन्न व्यक्ति पिण्ड, पद, रूप और रूपातीत नामक स्थितियों से ऊपर उठ कर जीवन्मुक्त हो जाता है, इसमें व्यक्ति को किसी प्रकार का संदेह नहीं रह जाना चाहिये।

प्रस्तुत श्लोक में पिण्ड, पद और रूप नामक तीन अवस्थाओं का ही उल्लेख है, किन्तु आगे १२०-१२१ संख्या के श्लोकों में रूपातीत पद भी उपलब्ध है, अत: यहाँ भी उसका अध्याहार कर लेना होगा। इन चारों अवस्थाओं का स्वरूप आगे अभी बताया जा रहा है। योगिनीहृदय की दीपिका टीका (पृ०.५९, ३२२) में भी पाठभेद के साथ यहाँ के १२१-१२२ संख्या के दोनों श्लोक उपलब्ध हैं। वहाँ इन्हें स्वच्छन्दसंग्रह का और प्रामाणिक व्यक्ति का वचन माना गया है। दीपिकाकार ने (पृ. ५९) बताया है कि इन शब्दों से क्रमश: मूलाधार, हृदय, भ्रू-मध्य और ब्रह्मरन्ध्र का ग्रहण किया जाता है।

इस प्रसंग में हमें यह स्मरण रखना है कि तन्त्रागम शास्त्र की अनेक शाखाओं में चार चक्रों को ही मान्यता मिली हुई है, ६ चक्रों को नहीं। बौद्ध तन्त्रों में चार और छ: उभयविध चक्रों को आम्नाय-भेद से मान्यता मिली है। प्रस्तुत स्थल में पिण्ड, पद, रूप और रूपातीत

के नाम से चार ही चक्र वर्णित हैं। ये शब्द तन्त्रशास्त्र की कौल और मत[1] शाखा में व्यवहृत हुए हैं। जैन तन्त्र ज्ञानार्णव आदि में और प्रसिद्ध जैन आचार्य हेमचन्द्र के योगशास्त्र में ध्यान के रूप में इन्हीं पिण्ड, पद, रूप और रूपातीत पदों का व्यवहार हुआ है।।११९।।

श्रीपार्वत्युवाच

पिण्डं किं नु महादेव पदं किं समुदाहृतम् ।
रूपातीतं च रूपं किमेतदाख्याहि शङ्कर ।।१२०।।

भगवती श्री पार्वती इस प्रसंग में भगवान् शंकर से पूँछती हैं कि हे महादेव ! यह पिण्ड क्या है ? पद किसे कहते हैं ? रूप और रूपातीत क्या है ? हे शंकर ! आप मुझे इन चारों पदों का अर्थ समझाइये।।१२०।।

श्रीमहादेव उवाच

पिण्डं कुण्डलिनी शक्तिः पदं हंसमुदाहृतम् ।
रूपं बिन्दुरिति ज्ञेयं रूपातीतं निरञ्जनम् ।।१२१।।

देवी पार्वती को श्री महादेव उत्तर देते हैं कि मूलाधार स्थित कुण्डलिनी शक्ति ही पिण्ड नाम से जानी जाती है। हृदय स्थित प्राण शक्ति को पद और भ्रू-मध्य स्थित बिन्दु तत्त्व को यहां रूप नाम दिया गया है। द्वादशान्त[2] स्थित निरंजन तत्त्व ही रूपातीत के नाम से जाना जाता है।।१२१।।

---

१. श्रीकण्ठीसंहिता की ६४ तन्त्रों की सूची में आठ मत-तन्त्रों का तथा नित्याषोडशिकार्णव की ६४ तन्त्रों की सूची में कुब्जिकामत, महालक्ष्मीमत आदि मत-तन्त्रों का उल्लेख मिलता है। कुब्जिकामत को इस मत का प्रधान ग्रन्थ माना जा सकता है। यह पश्चिमाम्नाय से संबद्ध सम्प्रदाय है। नि० षो०, उपो०, पृ. ५१-५४; लुप्ता०, उपो०, पृ. १३-१६ आदि में पृथक् शास्त्र के रूप में इसका परिचय दिया जा चुका है। लुप्ता०, उपो०, पृ. १३ में कुछ मत-तन्त्रों के नाम दिये गये हैं।

२. हृदयस्थित कमलकोश में प्राण का उदय होता है। नासिका मार्ग से बाहर निकल कर बारह अंगुल चलकर अन्त में यह आकाश में विलीन हो जाता है। इसी लिये बाह्य आकाश योगशास्त्र में द्वादशान्त के नाम से प्रसिद्ध है। द्विषट्कान्त, मुष्टित्रयान्त या शिखान्त शब्द द्वादशान्त के पर्यायवाची हैं। नेत्रतन्त्र (८.४१) की टीका में क्षेमराज ने तथा तन्त्रालोक (५.८९-९१) की टीका में जयरथ ने द्वादशान्त पद का अर्थ ऊर्ध्व द्वादशान्त किया है, जिसकी कि स्थिति शिखा के अन्त में है। प्राणशक्ति योगाभ्यास से जब ऊर्ध्वोन्मुख हो जाती है, तो वह द्वादशान्त में जाकर

पिण्डे[1] मुक्ता पदे मुक्ता रूपे मुक्ता वरानने ।
रूपातीते च ये मुक्तास्ते मुक्ता नात्र संशयः ।।१२२।।

मूलाधार स्थित कुण्डलिनी शक्ति पिण्ड से, हृदयस्थित प्राण शक्ति (पद) से, भ्रू-मध्य स्थित बिन्दु तत्त्व (रूप) से और द्वादशान्त स्थित रूपातीत [2]निरंजन पद से भी जो मुक्त हो गया है, अर्थात् इन सबमें विश्रान्तिलाभ कर चुका है, वह साधक अवश्य सभी प्रकार के बन्धनों से मुक्त हो जाता है, इसमें किसी प्रकार के सन्देह का कोई स्थान नहीं है।।१२२।।

स्वयं सर्वमयो भूत्वा परं तत्त्वं विलोकयेत् ।
परात् परतरं नान्यत् सर्वमेतन्निरालयम्[3] ।।१२३।।

साधक को चाहिये कि वह स्वयं सर्वमय होकर सबमें पर तत्त्व को देखने का प्रयत्न करे। तब वह देखेगा कि पर से परतर तत्त्व भी उससे भिन्न नहीं है तथा यहाँ दिखाई पड़ने वाला यह सारा जगत् निराश्रय है, स्वयं अपने में ही प्रतिष्ठित है।

विश्राम लेती है। उन्मना शक्ति यहीं निवास करती है। यहाँ द्वादशान्त की स्थिति ब्रह्मरन्ध्र से पृथक् मानी गई है। इसको द्वादशान्त इसलिये कहते हैं कि द्वादश आधारों के अन्त में इसकी स्थिति है।

१. योगिनीहृदयदीपिका के संस्करण में (पृ. ३२२) इसको ज्ञानकारिका का श्लोक बताया गया है, किन्तु कौलज्ञाननिर्णय के साथ प्रकाशित ज्ञानकारिका में यह उपलब्ध नहीं है। देखिये वहीं, उपोद्घात में, पृ. १३ व उसकी पहली टिप्पणी।

२. मुण्डकोपनिषद् (३.१.३) में निरंजन पद मुक्त जीव के लिये प्रयुक्त है। महानारायणोपनिषद् (७.९) में यह पद परब्रह्म का पर्यायवाची है। नाथ सम्प्रदाय के ग्रन्थों में अपर, पर, सूक्ष्म, निरंजन और परमात्मा नामक पांच तत्त्व या पद वर्णित हैं। इनमें से निरंजन पद में सहजत्व, सामरस्य, सत्यत्व, सावधानता और सर्वज्ञत्व नामक गुणों की स्थिति मानी गयी है। ये सब शिव के विविध रूप हैं। बौद्ध शास्त्रों में शून्य अथवा निर्वाण पद को निरंजन कहा जाता है। परवर्ती सन्त साहित्य में नाथ सम्प्रदाय अथवा बौद्ध सम्प्रदाय में मान्य अर्थ में ही इस पद का प्रयोग हुआ है। हमारे द्वारा संगृहीत शाक्त दर्शन की परिभाषाओं में इस तरह के शब्दों का विशेष विवरण देखा जा सकता है।

३. निरालय का अर्थ है निराश्रय, स्वयंनिष्ठ, अर्थात् जो अपनी ही महिमा में प्रतिष्ठित है, जिसका कोई दूसरा आधार नहीं है। ''मूले मूलाभावादमूलं मूलम्'' (१.६७) इस सांख्यसूत्र में यही सिद्धान्त प्रतिपादित है।

''सर्वं सर्वात्मकम्'' इस सिद्धान्त का प्रतिपादन पहले (पृ. ३५-३६) किया जा चुका है। तदनुसार संसार की प्रत्येक वस्तु शिवात्मक है, अत एव सर्वात्मक है, अर्थात् प्रत्येक व्यष्टि में समष्टि समाई हुई है। साधक जब सर्वत्र शिवमयता का दर्शन करने लगेगा, तो परतत्त्व का साक्षात्कार तो उसमें अपने आप ही आविर्भूत हो जायगा, वह देखेगा कि सब कुछ मुझ में ही समाया हुआ है, यह किसी दूसरे पर आश्रित नहीं है।।१२३।।

तस्यावलोकनं प्राप्य सर्वसङ्गविवर्जितः ।
एकाकी निस्पृहः शान्तस्तिष्ठासेत् तत्प्रसादतः ।।१२४।।

उस परतत्त्व को देख लेने पर, उसका साक्षात्कार हो जाने पर साधक सभी प्रकार की संसार की आसक्तियों से मुक्त हो जाता है और इसी के प्रसाद से वह अकेला सभी प्रकार की लालसाओं से मुक्त होकर अपने शान्त स्वभाव में स्थिर रहने की इच्छा को पुष्ट करने का प्रयत्न करता रहता है।

''तिष्ठासेत्'' यह संस्कृत भाषा का एक विशिष्ट प्रयोग है। यहाँ संस्कृत व्याकरण के अनुसार धातुप्रक्रिया में वर्णित सन्नन्त प्रत्यय से यह शब्द बना है। इसका अर्थ है स्थित रहने की प्रबल इच्छा। सामान्य व्यक्ति के लिये एकाकी, निस्पृह और शान्त रह पाना अतीव कठिन है। गुरुगीता कहती है कि साधक में शिवभाव में स्थिर रहने की प्रबल इच्छाशक्ति का पैदा होना आवश्यक है, क्योंकि दृढ इच्छाशक्ति की सहायता से ही व्यक्ति अपनी ज्ञान और क्रिया शक्ति को जगा सकता है, अन्यथा नहीं। उपनिषदों[1] में भी इस तरह के प्रयोग उपलब्ध हैं।।१२४।।

लब्धं वाऽथ न लब्धं वा स्वल्पं वा बहुलं तथा ।
निष्कामेनैव भोक्तव्यं सदा सन्तुष्टचेतसा ।।१२५।।

साधक व्यक्ति को चाहिये कि उसे कुछ मिला है या नहीं मिला है, थोड़ा बहुत मिल गया है, इन सब बातों पर बिना विचार किये पूरी तरह से निस्पृह रहकर चित्त में सदा सभी अवस्थाओं में सन्तोष का अनुभव करते हुए यदृच्छालब्ध विषयों का निष्काम भावना से उपभोग करे।

---

१. ''ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्'' (३.५.१) यह वचन बृहदारण्यक में और ''बाल्येन तिष्ठासेद् बालस्वभावोऽसङ्गो निरवद्यो मौनेन पाण्डित्येन'' यह सुबालोपनिषद् के १३ वें खण्ड में उपलब्ध है।

इस निष्काम भावना का, निष्काम कर्मयोग का वर्णन भगवद्गीता के ''यदृच्छालाभसन्तुष्टः'' (४.२२) इत्यादि वचनों में विस्तार से मिलता है और तिलक महाराज ने अपने गीतारहस्य में इस विषय का गंभीर अध्ययन प्रस्तुत किया है। ईशावास्योपनिषद् का ''तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'' (श्लो. १) यह वचन निष्काम भावना का प्रथम प्रेरक तत्त्व है।।१२५।।

सर्वज्ञपदमित्याहुर्देही सर्वमयो बुधाः ।
सदानन्दः सदा शान्तो रमते यत्रकुत्रचित् ।।१२६।।

यह देहधारी संसारी जीव जब अपने में सर्वमयता की भावना को परिपुष्ट कर लेता है, तो बुद्धिमान् व्यक्ति उस अवस्था को 'सर्वज्ञ पद' के नाम से जानते हैं। उस सर्वज्ञ पद में स्थित साधक सदा आनन्द से परिपूर्ण शान्त पदवी में, अर्थात् जीवन्मुक्तावस्था में स्थित होकर, जहाँ कहीं भी जिस किसी भी परिस्थिति में सर्वत्र समरसभाव में स्थिर होकर प्रमुदित भाव से सर्वत्र विचरण करता रहता है।।१२६।।

यत्रैव तिष्ठते सोऽपि स देशः पुण्यभाजनम् ।
मुक्तस्य लक्षणं देवि तवाग्रे कथितं मया ।।१२७।।

जीवन्मुक्तावस्था में पहुँचा हुआ ऐसा साधक जिस किसी स्थान में रहता है, वही स्थान पुण्य तीर्थ स्वरूप बन जाता है। *(गणेशपुरी को हम इसका नवीनतम उदाहरण मान सकते हैं)*। हे देवि ! तुम्हारे सामने मैंने इस प्रकार के जीवन्मुक्त व्यक्ति के स्वरूप का निरूपण पहले ही ''पिण्डे मुक्ताः'' (श्लो. १२२) इत्यादि श्लोक में कर दिया है।।१२७।।

उपदेशस्तथा देवि गुरुमार्गेण मुक्तिदः ।
गुरुभक्तिस्तथा ध्यानं सकलं तव कीर्तितम् ।।१२८।।

हे देवि ! मेरे द्वारा दिया गया यह उपदेश गुरुपरम्परा से जिस व्यक्ति को मिलता है, उसे अवश्य ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस प्रकार यहाँ मैंने तुमको गुरु की भक्ति के विषय में और गुरु के ध्यान के विषय में सारी बातें विस्तार से बता दी हैं।।१२८।।

अनेन यद् भवेत् कार्यं तद्वदामि महामते ।
लोकोपकारकं देवि! लौकिकं तु न भावयेत् ।।१२९।।

हे महान् मतिशालिनी देवि ! अब मेरे द्वारा दिये गये इस उपदेश के अभ्यास से, गुरुगीता का एकाग्र मन से पाठ करने से इस लोक का उपकार करने वाले जो जो कार्य सिद्ध होते हैं, उन्हें तुम्हें सुना रहा हूँ। हे देवि ! लौकिक कार्य की सिद्धि के लिये इसका उपयोग न किया जाय, तो यह अच्छी बात होगी।।१२९।।

लौकिकात् कर्मणो यान्ति ज्ञानहीना भवार्णवम् ।
ज्ञानी तु भावयेत् सर्वं कर्म निष्कर्म यत्कृतम् ।।१३०।।

गुरुगीता का, गुरुतत्त्व का उपदेश प्राप्त हो जाने के उपरान्त भी जो व्यक्ति लौकिक कार्यों की सिद्धि में ही लगे रहते हैं, वे अप्रबुद्ध जन ज्ञान की प्राप्ति न हो पाने से इस संसार रूपी समुद्र में ही डूबते-उतराते रहते हैं। इसलिये ज्ञानी साधक को सभी प्रकार के कर्मों का अनुष्ठान निष्काम भावना से करना चाहिये।।१३०।।

इदं तु भक्तिभावेन पठते शृणुते यदि ।
लिखित्वा तत्प्रदातव्यं तत्सर्वं सफलं भवेत् ।।१३१।।

इस गुरुगीता को यदि कोई व्यक्ति भक्तिभाव से पढता है और सुनता है अथवा लिखकर किसी को देता है, तो इससे उसकी सारी मनोकामनाएँ पूरी हो जाती हैं।।१३१।।

गुरुगीतात्मकं देवि ! शुद्धतत्त्वं मयोदितम् ।
भवव्याधिविनाशार्थं स्वयमेव जपेत् सदा ।।१३२।।

हे देवि ! गुरुगीतात्मक इस शुद्ध तत्त्व का उपदेश मैंने तुमको सुनाया है। भव (संसार) रूपी व्याधि (रोग) के नाश के लिये व्यक्ति को स्वयं ही इसका सदा जप करना चाहिये।

आगमशास्त्र के ग्रन्थों में ३६ तत्त्वों को शुद्ध, शुद्धाशुद्ध और अशुद्ध नामक तीन वर्गों में विभक्त किया गया है। इनमें से शुद्ध तत्त्वों का उपादान महामाया, शुद्धाशुद्ध तत्त्वों का माया और अशुद्ध तत्त्वों का उपादान प्रकृति है। हमने ''महामाया कुण्डलिनी''[१] निबन्ध में बताया है कि वागीश्वरी परा वाक् ही सारे शब्दप्रपंच की जननी है। शुद्ध तत्त्व का उपदेश करने वाली यह गुरुगीता भी उसी से उद्भूत है।।१३२।।

गुरुगीताक्षरैकं तु मन्त्रराजमिमं जपेत् ।
अन्ये च विविधा मन्त्राः कलां नार्हन्ति षोडशीम् ।।१३३।।

---

१. द्रष्टव्य — अजस्रा, त्रैमासिकी संस्कृत पत्रिका (व. ५, अं. १-४, पृ. १०५-११६), अखिल भारतीय संस्कृत परिषद्, लखनऊ, सन् १९८२; तथा — ''निगमागमीयं संस्कृतिदर्शनम्'' पृ. ४९-५८, जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी, सन् १९९५

गुरुगीता का एक-एक अक्षर मन्त्रराज है, अर्थात् अन्य सभी मन्त्रों में श्रेष्ठ है। केवल एक इसी मन्त्रराज का जप करना चाहिये। अन्य जो नाना प्रकार के मन्त्र हैं, वे इसकी सोलहवीं कला की भी बराबरी नहीं कर सकते।

शास्त्रों में चन्द्रमा की सोलह कलाओं का वर्णन मिलता है। उपनिषदों में पुरुष को भी षोडशकल[1] कहा गया है। सोलह कलाओं से सम्पन्न चन्द्रमा अथवा पुरुष परिपूर्ण माना जाता है। इन्हीं के आधार पर अन्य वस्तुओं की परिपूर्णता आँकी जाती है, जैसी कि यहाँ मन्त्रराज की परिपूर्णता को अंकित कर अन्य मन्त्रों की स्थिति उसकी सोलहवीं कला के भी बराबर नहीं मानी गई हैं।।१३३।।

अनन्तफलमाप्नोति गुरुगीताजपेन तु ।
सर्वपापप्रशमनं सर्वदारिद्र्यनाशनम् ।।१३४।।

गुरुगीता का जप (पाठ) करने से अनन्त फल की प्राप्ति होती है। इसके जप से सभी प्रकार के पापों की शान्ति होती है और व्यक्ति की सभी प्रकार की दरिद्रता भी दूर हो जाती है।

मन्त्र की बार-बार आवृत्ति के लिये जप शब्द का प्रयोग होता है। यहाँ गुरुगीता को मन्त्रराज की संज्ञा देकर इस पूरे स्तोत्र को एक इकाई मानकर इसके जप का विधान किया गया है। जब इसकी कोई लगातार एक ही दिन में अनेक आवृत्ति करता है, तो उसको जप की संज्ञा दी जाती है। दूसरी विधि यह भी है कि प्रतिदिन लगातार इसकी एक-एक आवृत्ति की जाय। लोक में प्राय: इसके लिये 'पाठ' शब्द प्रयुक्त होता है।।१३४।।

कालमृत्युभयहरं सर्वसंकटनाशनम् ।
यक्षराक्षसभूतानां चोरव्याघ्रभयापहम् ।।१३५।।

---

१. षोडशकल पुरुष का वर्णन प्रश्नोपनिषद् में मिलता है। सोलह कलाओं को वहाँ इस तरह से गिनाया गया है — "स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिराप: पृथिवीन्द्रियं मनोऽन्नमन्नाद्वीर्यं तपो मन्त्रा: कर्म लोका लोकेषु च नाम च" (६.१-४)। तदनुसार पुरुष की सोलह कलाएं ये हैं — १. प्राण, २. श्रद्धा, ३. आकाश, ४. वायु, ५. अग्नि, ६. जल, ७. पृथिवी, ८. इन्द्रिय, ९. मन, १०. अन्न, ११. वीर्य, १२. तप, १३. मन्त्र, १४. कर्म, १५. लोक और १६. नाम। सिद्धान्तसारावलि भी देखिये — पृ. १३-१४, ४१-४२, जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी सन् १९९८. वाल्मीकि रामायण के प्रारंभ में षोडशकल पूर्ण पुरुष के रूप में भगवान् रामचन्द्र का वर्णन किया गया है, ऐसा माना जाता है।

काल और मृत्यु का भय अथवा अकाल मृत्यु का भय गुरुगीता के पाठ से दूर हो जाता है। यह साधक के सभी प्रकार के संकटों को नष्ट करने वाला है। यक्ष, राक्षस, भूत, वेताल, चोर, व्याघ्र आदि के भय से भी यह व्यक्ति की रक्षा करता है।

काल, मृत्यु आदि शब्दों की व्याख्या पहले (श्लो. १०५) की जा चुकी है।।१३५।।

महाव्याधिहरं सर्वं विभूतिसिद्धिदं भवेत् ।
अथवा मोहनं वश्यं स्वयमेव जपेत् सदा ।।१३६।।

बड़ी-बड़ी दुःसाध्य बीमारियों को यह दूर करने वाला है, सभी प्रकार की विभूतियों की, ऐश्वर्यों की सिद्धि को देने वाला है। गुरुगीता का पाठ मोहन और वशीकरण आदि में भी सहायक हो सकता है। गुरुगीता का पाठ व्यक्ति को सदा स्वयं ही करना चाहिये।

व्याधि शब्द की व्याख्या भी पहले (पृ. ६२) की जा चुकी है। उससे ऐसा प्रतीत होता है कि शारीरिक व्याधि से मनुष्य चिन्तासागर में डूबने लगता है। नाना प्रकार की विभूतियों का वर्णन योगसूत्र के विभूतिपाद में तथा आगम, पुराण आदि में भी वर्णित है। अणिमा आदि सिद्धियाँ अतिप्रसिद्ध हैं। खड्ग, अंजन, पादलेप आदि सिद्धियों का भी वर्णन आगम-तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों में सर्वत्र मिलता है। कुछ आधुनिक विद्वानों ने इन सिद्धियों का भी ब्राह्मण और बौद्ध विभाग कर दिया है। यह भारतीय संस्कृति पर सीधा बाह्य संकीर्ण संस्कृतियों का हस्तक्षेप है। अखण्ड भारतीय संस्कृति को छिन्नभिन्न करने का यह एक दुष्प्रयासमात्र है। वस्तुतः बौद्ध तन्त्रों के समान शैव, शाक्त आदि तन्त्रों में भी समान रूप से इन सिद्धियों का वर्णन मिलता है। कालचक्रतन्त्र की प्रसिद्ध टीका विमलप्रभा में वैदिक मन्त्रों का तथा विधिविधानों का पर्याप्त उल्लेख मिलता है।।१३६।।

वस्त्रासने च दारिद्र्यं पाषाणे रोगसंभवः ।
मेदिन्यां दुःखमाप्नोति काष्ठे भवति निष्फलम् ।।१३७।।

मन्त्रजप, स्तोत्रपाठ आदि आसन पर बैठकर किया जाता है। ऊपर के अनेक श्लोकों में गुरुगीता के माहात्म्य को बताने के बाद इन आसनों के विषय में भी अब कहा जा रहा है कि वस्त्र के आसन पर बैठकर पाठ करने से दरिद्रता आती है। पत्थर पर बैठकर मन्त्रजप करने से रोग की संभावना रहती है। खाली भूमि पर बिना कुछ बिछाये बैठकर पाठ करने से व्यक्ति नाना प्रकार के कष्टों को पाता है। इसी तरह से काष्ठ (लकड़ी) के पीढे पर बैठकर जो मन्त्रजप किया जाता है, वह सब पूरी तरह से निष्फल हो जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि इन सब आसनों पर बैठकर मन्त्रजप, स्तोत्रपाठ आदि नहीं करना चाहिये।।१३७।।

कृष्णाजिने ज्ञानसिद्धिर्मोक्षश्रीर्व्याघ्रचर्मणि ।
कुशासने ज्ञानसिद्धिः सर्वसिद्धिस्तु कम्बले ।।१३८।।

कृष्णमृग के चर्म के आसन पर बैठ कर जप आदि करने से ज्ञान की सिद्धि मिलती है। व्याघ्रचर्म के आसन पर मोक्षलक्ष्मी की प्राप्ति होती है। कुशा के आसन पर बैठ कर जप करने से भी ज्ञान की सिद्धि होती है और कम्बल के आसन पर बैठकर मन्त्रजप करने से सब प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं।।१३८।।

कुशैर्वा दूर्वया देवि आसने शुभ्रकम्बले ।
उपविश्य ततो देवि जपेदेकाग्रमानसः ।।१३९।।

हे देवि ! कुशा अथवा दूर्वा से बने आसन पर और श्वेत कम्बल के आसन पर बैठकर एकाग्रचित्त हो व्यक्ति को मन्त्रजप करना चाहिये।

आसन का यह प्रसंग — ''चेलाजिनकुशोत्तरम्'' (६.१६) भगवद्गीता के इस प्रसंग के बिना अधूरा रह जायगा। योगसूत्र में — ''स्थिरसुखमासनम्'' (१.४६) यह आसन का लक्षण दिया गया है। आसन वही उत्तम होता है, जिस पर कि लम्बे समय तक आराम से बैठा जा सके। इसीलिये भगवद्गीता में कहा गया है कि सबसे ऊपर कोमल वस्त्र, उसके नीचे अजिन, अर्थात् मृगचर्म, व्याघ्रचर्म आदि तथा सबसे नीचे कुशा का आसन रहना चाहिये। ऐसे आसन में पृथ्वी से सीधा सम्पर्क कुशासन का रहता है, जोकि पवित्रता का द्योतक है और मृगचर्म तथा ऊर्णा (ऊन) आदि से बने आसनों को उसके ऊपर बिछाने से साधक लम्बे समय तक आराम से स्थिरतापूर्वक बैठ सकता है। शक्तिसंगमतन्त्र के द्वितीय तारा खण्ड में मुण्डासन, शवासन आदि ३२ प्रकार के आसनों का उल्लेख और वर्णन मिलता है।।१३९।।

ध्येयं शुक्लं च शान्त्यर्थं वश्ये रक्तासनं प्रिये ।
अभिचारे कृष्णवर्णं पीतवर्णं धनागमे ।।१४०।।

हे प्रिये ! व्यक्ति को शान्ति के निमित्त शुक्ल वर्ण के आसन का चयन करना चाहिये। वशीकरण के लिये लाल वर्ण का, अभिचार (मारण आदि क्रूर प्रयोग) कर्म के लिये कृष्ण वर्ण का और धन की प्राप्ति के लिये पीले वर्ण का आसन उपयोग में लाना चाहिये, अर्थात् भिन्न-भिन्न कामनाओं की सिद्धि के लिये भिन्न-भिन्न वर्णों के आसन पर बैठ कर मन्त्र-जप, ध्यान आदि करने से अभीष्ट की सिद्धि शीघ्रता से होती है।।१४०।।

उत्तरे शान्तिकामस्तु वश्ये पूर्वमुखो जपेत् ।
दक्षिणे मारणं प्रोक्तं पश्चिमे च धनागमः ।।१४१।।

शुभ और अशुभ आसनों और कर्म के अनुसार उनके वर्णों का विधान बताकर अब कामना-भेद से विभिन्न दिशाओं में मुँह कर जप करने से शीघ्र फल-प्राप्ति की बात बताई जा रही है कि शान्ति की कामना वाला व्यक्ति उत्तर दिशा की तरफ मुँह करके जप करे। वशीकरण के लिये पूर्व की तरफ मुँह कर, मारण कर्म में दक्षिण-मुख और धन की प्राप्ति की कामना वाला व्यक्ति पश्चिम दिशा में मुँह करके जप, पाठ, ध्यान, पूजन आदि करे।।१४१।।

मोहनं सर्वभूतानां बन्धमोक्षकरं भवेत् ।
देवराजप्रियकरं सर्वलोकवशं भवेत् ।।१४२।।

इस प्रकार विधिपूर्वक किया गया गुरुगीता का जप सभी प्राणियों को मोह लेने में समर्थ होता है। यह सभी प्रकार के बन्धनों से व्यक्ति को छुटकारा दिलाने वाला है। इन्द्र आदि श्रेष्ठ देवताओं को प्रसन्न करने वाला और सारे लोकों को वश में करने में भी यह समर्थ होता है।।१४२।।

सर्वेषां स्तम्भनकरं गुणानां च विवर्धनम् ।
दुष्कर्मनाशनं चैव सुकर्मसिद्धिदं भवेत् ।।१४३।।

गुरुगीता के पाठ के महत्त्व को ऊपर दिखाया गया है। इसी विषय को चालू रखते हुए आगे के श्लोकों में बताया गया है कि इसका विधिपूर्वक पाठ करने से व्यक्ति सभी प्राणियों का स्तंभन करने में समर्थ हो जाता है, अर्थात् सभी प्राणियों को जड़ बना देता है। सभी तरह के गुणों की वृद्धि करने वाला है। सारे दुष्कर्मों (पापों) का नाश करता है और सभी प्रकार के पुण्य कर्मों की सिद्धि में सहायक होता है।।१४३।।

असिद्धं साधयेत् कार्यं नवग्रहभयापहम् ।
दुःस्वप्ननाशनं चैव सुस्वप्नफलदायकम् ।।१४४।।

गुरुगीता के पाठ से व्यक्ति असाध्य कार्य को सिद्ध करने में समर्थ हो जाता है। नौ ग्रहों के दुष्प्रभाव से उत्पन्न होने वाले भय को दूर करने वाला है। दुःस्वप्नों के प्रभाव को नष्ट करने वाला और अच्छे स्वप्नों के फल को देने वाला है।।१४४।।

सर्वशान्तिकरं नित्यं तथा वन्ध्यासुपुत्रदम् ।
अवैधव्यकरं स्त्रीणां सौभाग्यदायकं सदा ।।१४५।।

गुरुगीता का यह पाठ सदा सभी प्रकार की शान्ति को देने वाला है। वन्ध्या स्त्री को भी सुयोग्य पुत्र प्रदान करता है। स्त्रियों के वैधव्य दोष के कारणों को दूर कर देता है और सभी प्रकार के सुख-सौभाग्य को देने वाला है।।१४५।।

आयुरारोग्यमैश्वर्यपुत्रपौत्रविवर्धनम् ।
अकामतः स्त्री विधवा जपान्मोक्षमवाप्नुयात् ।।१४६।।

गुरुगीता का जप आयु, आरोग्य, ऐश्वर्य को देने वाला है और पुत्र-पौत्र आदि सन्तति की वृद्धि करने वाला है। विधवा स्त्री यदि निष्काम भावना से इसका जप करती है, तो उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है।।१४६।।

अवैधव्यं सकामा तु लभते चान्यजन्मनि ।
सर्वदुःखमयं विघ्नं नाशयेच्छापहारकम् ।।१४७।।

इसी तरह से किसी कामना से गुरुगीता का पाठ करने वाली विधवा स्त्री दूसरे जन्मों में सदा के लिये वैधव्य से छुटकारा पा जाती है। गुरुगीता के जप से सभी प्रकार के दुःखों का भय दूर हो जाता है और सारे विघ्नसमूह समूल नष्ट हो जाते हैं। इसके पाठ से किसी अपराध के कारण प्राप्त हुए शापदोष का भी नाश हो जाता है।।१४७।।

सर्वबाधाप्रशमनं धर्मार्थकाममोक्षदम् ।
यं यं चिन्तयते कामं तं तं प्राप्नोति निश्चितम् ।।१४८।।

गुरुगीता का विधिपूर्वक किया गया जप सभी प्रकार की विघ्न-बाधाओं को दूर करने वाला है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नामक चारों पुरुषार्थों को देनेवाला है। इसका जप करने वाला व्यक्ति जिस-जिस वस्तु को प्राप्त करने का विचार करता है, वह वस्तु उसे निश्चित रूप से प्राप्त हो जाती है।।१४८।।

कामितस्य कामधेनुः कल्पनाकल्पपादपः ।
चिन्तामणिश्चिन्तितस्य सर्वमङ्गलकारकम् ।।१४९।।

गुरुगीता, इसका पाठ करने वाले व्यक्ति की कामना को पूरा करने में कामधेनु और नाना प्रकार की कल्पनाओं को पूरा करने में कल्पवृक्ष के समान सामर्थ्य वाली है। चिन्तामणि जैसे व्यक्ति को इच्छित वस्तु प्रदान करती है, उसी तरह से गुरुगीता का जप भी सभी वस्तुओं को उनकी चिन्ता करने के साथ ही प्रदान करने की सामर्थ्य से सम्पन्न है। यह सभी प्रकार के मंगल का भी प्रदाता है।

कामधेनु, कल्पवृक्ष और चिन्तामणि मनुष्य की अभीष्ट कामना तत्काल पूरा करने वाले हैं, पुराण आदि ग्रन्थों में इसका विस्तार से वर्णन मिलता है।।१४९।।

मोक्षहेतुर्जपेन्नित्यं मोक्षश्रियमवाप्नुयात् ।
भोगकामो जपेद् यो वै तस्य कामफलप्रदम् ।।१५०।।

मोक्ष की प्राप्ति के लिये गुरुगीता का जप करने वाला व्यक्ति अवश्य ही मोक्षरूपी लक्ष्मी को प्राप्त करता है। इसके विपरीत जो व्यक्ति भोग (ऐहिक और पारलौकिक) की कामना से इसका जप करता है, उसके लिये भी यह सभी कामनाओं को देने वाला है।।१५०।।

जपेच्छाक्तश्च सौरश्च गाणपत्यश्च वैष्णवः ।
शैवश्च सिद्धिदं देवि! सत्यं सत्यं न संशयः ।।१५१।।

हे देवि ! शाक्त, सौर, गाणपत्य, वैष्णव, शैव आदि सभी मतों में से किसी भी मत का अनुयायी हो, इस गुरुगीता के पाठ से उसे अवश्य सिद्धि प्राप्त होगी, इसमें किसी भी प्रकार का संदेह मन में नहीं पालना चाहिये।

प्रस्तुत श्लोक में शाक्त, सौर, गाणपत्य, वैष्णव और शैव नामक पांच सम्प्रदायों का उल्लेख है। स्मार्त सम्प्रदाय में शक्ति, सूर्य, गणपति, विष्णु और शिव की पंचायतन पूजा विहित है। वहाँ नियमानुसार इन पाँचों देवताओं की उपासना की जाती है। प्रत्येक सम्प्रदाय में इन पाँचों देवताओं की उपासना का क्रम भिन्न-भिन्न है। प्रत्येक सम्प्रदाय में अपने इष्ट-देवता की मध्य में तथा अन्य चार देवताओं की उपासना इष्टदेवता की चारों दिशाओं में की जाती है। स्मार्त उपासना के नाम से यह जानी जाती है। किसी समय भारतवर्ष में इन सब सम्प्रदायों की अलग-अलग सत्ता विद्यमान थी। भगवत्पाद आद्य शंकराचार्य ने प्रपंचसार नामक महनीय ग्रन्थ की रचना कर इस समन्वयप्रधान स्मार्त सम्प्रदाय को प्रवृत्त किया। आज भी भारत में विद्यमान सभी सम्प्रदायों में इसी प्रकार के समन्वयात्मक दृष्टिकोण का विकास हो, यह नितान्त अपेक्षित है।।१५१।।

अथ काम्यजपे स्थानं कथयामि वरानने ।
सागरे वा सरित्तीरेऽथवा हरिहरालये ।।१५२।।

गुरुगीता के माहात्म्य के प्रसंग में ही कामना के अनुसार विविध स्थानों में इसके पाठ का विधान बताते हुए भगवान् शिव कहते हैं कि यदि किसी व्यक्ति को गुरुगीता का पाठ अपनी किसी कामना की पूर्ति के लिये करना है, तो उसके लिये उपयुक्त स्थानों को मैं बताता हूँ। सागर (समुद्र) या नदी के तट पर अथवा शिव और विष्णु के मन्दिर में इसका जप सभी कामनाओं की शीघ्र पूर्ति करने वाला है।

नित्य, नैमित्तिक और काम्य के भेद से जप, पूजा आदि कर्मों के तीन-तीन भेद होते हैं। सन्ध्यावन्दन, गायत्रीजप आदि प्रतिदिन अनिवार्य रूप से किये जाने वाले कार्य नित्य, चन्द्र-सूर्य ग्रहण, अमावस्या-पूर्णिमा आदि पर्व, जनन-मरण आदि निमित्तों के अवसर पर

किये जाने वाले कर्म नैमित्तिक तथा किसी कामना की पूर्ति के लिये किये जाने वाले कर्म काम्य कहलाते हैं। १५२-१५५ श्लोकों में काम्य कर्मों का अनुष्ठान कहाँ-कहाँ करने से शीघ्र फल मिलता है, इसका उल्लेख किया गया है। ऋग्वेद (८.६.२८) और यजुर्वेद (२६.१५) में पठित एक मन्त्र[1] में गिरिगह्वर और नदीसंगम में तपस्या करने से विप्रत्व के सिद्ध होने की बात कही गई है। तन्त्रागमशास्त्र में भी इनका, यहाँ वर्णित स्थानों का और अन्य भी अनेक साधना-स्थानों का उल्लेख मिलता है। बौद्ध तन्त्र-ग्रन्थ ज्ञानोदय (पृ. १) में निम्न स्थान परिगणित हैं — गिरिगुहा, महोदधि, नदीतीर, वृक्षमूल, मातृकागृह, शिवालय, उद्यान, श्मशान, चतुष्पथ, विहार, चैत्य, विजनगृह और निरुपद्रव अनुकूल निवास स्थान। महान् भारतीय चिन्तक भारतरत्न म०म० डॉ० पी०वी० काणे महोदय ने अपने विशाल ग्रन्थ "धर्मशास्त्र का इतिहास"[2] में महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर को उद्धृत करते हुए लिखा है कि प्राकृतिक सौन्दर्य से भरपूर लुभावने स्थानों का अवलोकन कर जहाँ भारतीय संस्कृति ने उनमें पवित्र तीर्थों की कल्पना की, वहीं पाश्चात्य संस्कृति ऐसे स्थानों को देखकर वहाँ होटल बनाकर अपनी भौतिक दृष्टि को ही वरीयता देती है। काश ! उनमें भी यह आध्यात्मिकता जाग सकती और इस दुनिया को सुख और शान्ति का संदेश दिया जा सकता।।१५२।।

शक्तिदेवालये गोष्ठे सर्वदेवालये शुभे ।
वटे च धात्रीमूले वा मठे वृन्दावने तथा ।।१५३।।

इसी तरह से दुर्गा आदि शक्तियों के मन्दिरों में, गायों के रहने के स्थान गोष्ठ में, सभी प्रकार के शुभ देवालयों में, वटवृक्ष या आमलक वृक्ष की छाया में, पवित्र मठ में तथा वृन्दावन में गुरुगीता का काम्य जप शीघ्र फलदायी होता है।।१५३।।

पवित्रे निर्मले स्थाने नित्यानुष्ठानतोऽपि वा ।
निर्वेदनेन[3] मौनेन जपमेतं समाचरेत् ।।१५४।।

---

१. "उपह्वरे गिरीणां संगथे च नदीनाम्। धिया विप्रो अजायत ।।" उक्त स्थल पर दोनों ही वेदों में यह मन्त्र उपलब्ध है। यजुर्वेद में 'संगथे' के स्थान पर 'संगमे' पाठ है ।

२. हिन्दी संस्करण, तृतीय भाग, पृ. १२९९-१३०० की तीसरी टिप्पणी द्रष्टव्य । हिन्दी समिति ग्रन्थमाला, लखनऊ, द्वितीय संस्करण, सन् १९७५

३. "निर्वेदन मौन" का अर्थ है शान्त भाव से मौन धारण करना अथवा जब मौन धारण करने में किसी प्रकार के दु:ख की अनुभूति न हो, मौन धारण कर लेने के बाद किसी से कुछ कहने की इच्छा जाग्रत् न हो।

अथवा नित्य कर्म के अनुष्ठान से पवित्र हुए स्थल पर भी इसका पाठ किया जा सकता है। पूरे वैराग्य के साथ शान्त भाव से मौन धारण कर गुरुगीता का यह काम्य जप करना चाहिये।।१५४।।

श्मशाने भयभूमौ तु वटमूलान्तिके तथा ।
सिद्ध्यन्ति धौत्तरे मूले चूतवृक्षस्य सन्निधौ ।।१५५।।

श्मशान आदि भयजनक स्थानों पर, वट वृक्ष की जड़ों और तनों से घिरे हुए स्थानों पर, धत्तूर (धतूरे) वृक्ष की जड़ के पास तथा आम्र वृक्ष के समीप भी गुरुगीता का यह काम्य जप किया जा सकता है।।१५५।।

गुरुपुत्रो वरं मूर्खस्तस्य सिद्ध्यन्ति नान्यथा ।
शुभकर्माणि सर्वाणि दीक्षाव्रततपांसि च ।।१५६।।

गुरु का पुत्र, अर्थात् जो व्यक्ति गुरु की शरण में आ गया है, भले ही वह मूर्ख हो, पढा-लिखा न हो, गुरुगीता के जप से उसके भी सारे कार्य सिद्ध हो जाते हैं, इसमें कोई अन्यथा बात नहीं हैं, सन्देह की कोई गुंजाइश नहीं है। सभी तरह के शुभ कर्म, दीक्षा, व्रत, तप आदि उसके लिये फलद होते हैं।

पहले (श्लो. ६०) समयी, पुत्रक, साधक आदि की चर्चा आ चुकी है। पुत्रक दीक्षा में प्रविष्ट साधक को गुरु पुत्रवत् स्वीकार कर लेता है। गुरुपुत्र के रूप में वही यहाँ गृहीत है। अथवा "गुरुवद् गुरुपुत्रे वर्तितव्यम्, अन्यत्रोच्छिष्टभोजनात् पादोदकग्रहणाच्च" इस वचन के अनुसार उच्छिष्टभोजन एवं पादोदकग्रहण के अतिरिक्त गुरुपुत्र के साथ गुरु के समान ही व्यवहार किया जाता है। अत: गुरुपुत्र भले ही मूर्ख हो, व्यक्ति को दीक्षा अपने गुरुघराने से ही लेनी चाहिये। तभी उसके व्रत, तप आदि शुभ कार्य सिद्ध होते हैं।।१५६।।

संसारमलनाशार्थं भवपाशनिवृत्तये ।
गुरुगीताम्भसि स्नानं तत्त्वज्ञः कुरुते सदा ।।१५७।।

गुरुगीता के माहात्म्य का वर्णन करते हुए ही यहाँ पुन: कहा गया है कि संसाररूपी मल के नाश के लिये, इस संसार के बन्धन की निवृत्ति के लिये तत्त्वज्ञ पुरुष सदा गुरुगीता रूपी जल में स्नान करता रहता है।

प्रसिद्ध कश्मीरी तन्त्र मालिनीविजय में —[१] "मलमज्ञानमिच्छन्ति संसाराङ्कुरकारणम्" (१.२३) इस प्रकार संसाररूपी अंकुर का कारण मल को माना गया है। इस मल के आणव,

---

१. लुप्ता० उपो० (पृ. १३६-१५१) में तथा वहाँ की टिप्पणियों में पंचविध और चतुर्विध पाश तथा त्रिविध मल के लक्षण, स्वरूप आदि पर विस्तार से विचार किया गया है।

कार्म और मायीय नामक तीन भेद वहाँ वर्णित हैं। इन सबके लक्षण और स्वरूप पर प्रत्यभिज्ञा दर्शन के ग्रन्थों में विस्तार से विचार हुआ है। गुरुगीता के पाठ से इन सबकी निवृत्ति उसी तरह से हो सकती है, जैसे मैले-कुचैले व्यक्ति का मल विधिवत् स्नान करने से दूर हो जाता है।।१५७।।

स एव च गुरुः साक्षात् सदा सद्ब्रह्मवित्तमः ।
तस्य स्थानानि सर्वाणि पवित्राणि न संशयः ।।१५८।।

यहाँ गुरु की महिमा का वर्णन करते हुए बताया जा रहा है कि सदा-सर्वदा सद्ब्रह्म का साक्षात्कार करने वाला, ब्रह्म के सत्स्वरूप को भलीभाँति जानने वाला गुरु साक्षात् ब्रह्मस्वरूप ही है। वह सद्गुरु जहाँ जहाँ रहता है, वे सब स्थान सदा पवित्र हैं, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं रहना चाहिये।।१५८।।

सर्वशुद्धः पवित्रोऽसौ स्वभावाद्यत्र तिष्ठति ।
तत्र देवगणाः सर्वे क्षेत्रे पीठे वसन्ति हि ।।१५९।।

सभी तरह से शुद्ध और पवित्र वह ब्रह्मवेत्ता गुरु स्वाभाविक रूप से जहाँ कहीं रहता है, उस क्षेत्र अथवा पीठ में सभी देवगण निवास करते हैं।

तन्त्रागम-शास्त्र में काशी, प्रयाग आदि क्षेत्र तथा कामरूप, जालन्धर आदि पीठ कहलाते हैं। ये सब स्थान अति पवित्र माने जाते हैं। इसी तरह से ब्रह्मवेत्ता गुरु का निवास-स्थान भी इन क्षेत्रों और पीठों के समान ही अति पवित्र है। स्पष्ट है कि इस पवित्र स्थान में सभी देवताओं का निवास हो।।१५९।।

आसनस्थः शयानो वा गच्छंस्तिष्ठन् वदन्नपि ।
अश्वारूढो गजारूढः सुप्तो वा जागृतोऽपि वा ।।१६०।।
शुचिमांश्च सदा ज्ञानी गुरुगीताजपेन तु ।
तस्य दर्शनमात्रेण पुनर्जन्म न विद्यते ।।१६१।।

गुरुगीता की और उसका पाठ करने वाले साधक की महत्ता का वर्णन करते हुए यहाँ इन दो श्लोकों में बताया गया है कि जिस किसी भी अवस्था में गुरुगीता का जप किया जा सकता है। व्यक्ति आसन पर बैठा हो, जहाँ कहीं सोया हुआ हो, कहीं जा रहा हो, कहीं ठहरा हुआ हो अथवा किसी से बात कर रहा हो, घोड़े की अथवा हाथी की सवारी किये हुए हो, सोया हुआ हो या जाग रहा हो, इन सभी स्थितियों में गुरुगीता का पाठ करने वाला ज्ञानी साधक सदा पवित्र ही रहता है। ऐसे ज्ञानसम्पन्न साधक के दर्शनमात्र से सामान्य व्यक्ति भी पुनर्जन्म से सदा के लिये मुक्ति पा जाता है।।१६०-१६१।।

समुद्रे च यथा तोयं क्षीरे क्षीरं घृते घृतम् ।
भिन्ने कुम्भे यथाकाशस्तथात्मा परमात्मनि ।।१६२।।

सारा जल जैसे अन्त में समुद्र में मिल जाता है, दूध में जैसे दूध और घृत में घृत घुल-मिल कर एकाकार हो जाता है अथवा घड़े के टूट जाने पर घट स्थित आकाश जैसे महाकाश में विलीन हो जाता है, उसी तरह से यह आत्मा परमात्मा में विलीन हो जाती है, एकाकार हो जाती है।।१६२।।

तथैव ज्ञानी जीवात्मा परमात्मनि लीयते ।
ऐक्येन रमते ज्ञानी यत्र तत्र दिवानिशम् ।।१६३।।

ऊपर के दृष्टान्तों की तरह ही ज्ञानी जीवात्मा भी परमात्मा में विलीन हो जाता है। ऐसा ज्ञानी जहाँ कहीं रहता है, वहीं परमात्मा के साथ एकाकार होकर आनन्दमग्न रहता है, अर्थात् वह जीवित रहते हुए भी मुक्तावस्था को प्राप्त कर लेता है।।१६३।।

एवंविधो महामुक्तः सर्वदा वर्तते बुधः ।
तस्य सर्वप्रयत्नेन भावभक्तिं करोति यः ।।१६४।।

सर्वसन्देहरहितो मुक्तो भवति पार्वति ।
भुक्तिमुक्तिद्वयं तस्य जिह्वाग्रे च सरस्वती ।।१६५।।

इस प्रकार महान् मुक्ति को प्राप्त हुआ यह जीवन्मुक्त योगी व्यवहार स्थिति में भी सदा परमात्मभाव का अनुभव करता रहता है। ऐसे जीवन्मुक्त व्यक्ति को गुरु के रूप में पाकर जो साधक उसके प्रति प्रयत्नपूर्वक पवित्र भावना से भक्ति प्रदर्शित करता है, भावपूर्ण हो भक्ति करता है, वह भक्त शिष्य सभी सन्देहों से मुक्त होकर स्वयं भी जीवन्मुक्तावस्था को प्राप्त कर लेता है। भुक्ति और मुक्ति दोनों उसके अधिकार में आ जाती हैं और उसकी जिह्वा पर सरस्वती का निवास हो जाता है।

यहाँ भावभक्ति शब्द का "भावभरिता भक्तिः" अथवा "भावश्च भक्तिश्च" ऐसी निरुक्ति करनी चाहिये। भुक्ति और मुक्ति शब्द का प्रयोग प्रारंभ में आगम-तन्त्रशास्त्र में भी भारतीय दर्शनशास्त्र में प्रयुक्त अभ्युदय और निःश्रेयस के अर्थ में ही होता रहा है, किन्तु "श्रीसुन्दरीसाधनतत्पराणां भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव" तक आते-आते इसका अर्थ बदल गया और अन्ततः भगवान् बने आचार्य रजनीश ने तो अर्थ का अनर्थ ही कर दिया। अपने ग्रन्थ "आगम और तन्त्रशास्त्र" (पृ. १६) में हमने इस स्थिति की समालोचना की है।।१६४-१६५।।

अनेन प्राणिनः सर्वे गुरुगीताजपेन तु ।
सर्वसिद्धिं प्राप्नुवन्ति भुक्तिं मुक्तिं न संशयः ।।१६६।।

भुक्ति और मुक्ति के प्रसंग में गुरुगीता की महिमा को पुनः प्रकट करते हुए कहा जा रहा है कि इस गुरुगीता का जप (पाठ) करने से सभी प्राणी सब तरह की सिद्धियों के साथ भोग और मोक्ष को भी प्राप्त कर लेते हैं, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है।।१६६।।

सत्यं सत्यं पुनः सत्यं धर्म्यं सांख्यं मयोदितम् ।
गुरुगीतासमं नास्ति सत्यं सत्यं वरानने ।।१६७।।

गुरुगीता के ही माहात्म्य के प्रसंग में कहा जा रहा है कि हे सुमुखि पार्वति ! यह सच है, पूरी तरह से सच है, पुनः पुनः सच है कि गुरुगीता के समान दूसरा कोई मन्त्र नहीं है। मेरा यह कथन धर्म और ज्ञान को भी देने वाला है, अर्थात् धर्मशास्त्र और दर्शनशास्त्र का पूरी तरह से अनुसरण करता है।

सांख्य शब्द यहाँ ज्ञान या दर्शनशास्त्र का सूचक है। भगवद्गीता में योग की कर्मपरक तथा सांख्य की ज्ञानपरक व्याख्या करने के बाद इन दोनों की एकता का प्रतिपादन किया गया है —"एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु" (२.३९), "एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति" (५.५)। उसका अभिप्राय यह है कि जैसे पक्षी दोनों पंखों की सहायता से ही उड़ सकता है, उसी तरह से योग और सांख्य अर्थात् कर्म और ज्ञान के समुच्चय से ही, अर्थात् इन दोनों का एक साथ अनुष्ठान और अभ्यास करने से ही साधक मुक्ति को प्राप्त कर सकता है। यह सिद्धान्त ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद के नाम से प्रसिद्ध है। इस मत के प्रवर्तक भर्तृप्रपंच, भास्कर आदि आचार्य हुए हैं। न्याय-वैशेषिक और मीमांसा दर्शन में भी यह सिद्धान्त मान्य है। पुराणों में इस सिद्धान्त को विशेष आदर मिला है।।१६७।।

एको देव एकधर्म एकनिष्ठा परं तपः ।
गुरोः परतरं नान्यन्नास्ति तत्त्वं गुरोः परम् ।।१६८।।

गुरु की महिमा का गान करते हुए ही गुरुगीता के इस श्लोक में बताया गया है कि गुरु ही एकमात्र देव है, वही एकमात्र धर्म है, मनुष्य को एकमात्र गुरु में ही निष्ठाभक्ति रखनी चाहिये। यही सबसे बड़ा तप है। गुरु से बढ़कर इस संसार में दूसरा कोई नहीं है। परम तत्त्व के रूप में शास्त्रों में ब्रह्मस्वरूप गुरु का ही वर्णन मिलता है।।१६८।।

माता धन्या पिता धन्यो धन्यो वंशः कुलं तथा।
धन्या च वसुधा देवि ! गुरुभक्तिः सुदुर्लभा ।।१६९।।

गुरु की महिमा के बाद गुरुभक्ति की प्रशंसा करते हुए यहाँ कहा गया है कि गुरु की भक्ति अत्यन्त दुर्लभ है। वह माता धन्य है, पिता धन्य है, वह वंश और कुल धन्य है और वह देश धन्य है, जहाँ गुरुभक्ति से सम्पन्न व्यक्ति जन्म लेता है।

वंश और कुल यद्यपि दोनों पर्यायवाची शब्द हैं, तथापि इनके सूक्ष्म अन्तर को ध्यान में रखकर यहाँ इनका अलग-अलग प्रयोग मान लेना चाहिये। ''वंशोक्ता ऋषयस्तृप्यन्ताम्'' श्रावणी ऋषितर्पण में प्रयुक्त इस वाक्य के अनुसार वंश-परम्परा प्राचीन ऋषियों से प्रवृत्त होती है। बाद में यही ऋषि-प्रवर्तित वंश-परम्परा विभिन्न कुलों में विभक्त हो जाती है। वंश परम्परा अपरिवर्तनीय है, जब कि कुल-परम्परा में समय-समय पर परिवर्तन की पूरी संभावना रहती है।।१६९।।

शरीरमिन्द्रियं प्राणाश्चार्थस्वजनबान्धवाः ।
माता पिता कुलं देवि ! गुरुरेव न संशयः ।।१७०।।

प्रस्तुत श्लोक में पुनः गुरुमहिमा को उजागर किया जा रहा है कि हे देवि ! मनुष्य का शरीर, इन्द्रिय, प्राण, धन, स्वजन, बन्धु-बान्धव, माता, पिता और कुल — यह सब गुरु के प्रसाद से ही मिलते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि गुरु के प्रसाद से ही सबल शरीर, इन्द्रिय और प्राण की प्राप्ति के साथ धन-जन, बन्धु-बान्धव की सम्पन्नता, सुयोग्य यशस्वी माता-पिता और कुल की प्राप्ति होती है। मनुष्य को इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाना चाहिये।।१७०।।

आकल्पजन्मना कोट्या जपव्रततपःक्रियाः ।
तत्सर्वं सफलं देवि ! गुरुसन्तोषमात्रतः ।।१७१।।

हे देवि ! कल्प के प्रारंभ से लेकर अब तक प्राप्त हुए करोड़ों जन्मों में किये गये जप, व्रत, तप आदि सारे अनुष्ठान गुरु के सन्तुष्ट होने पर ही सफल माने जा सकते हैं।

काल की दिन, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर, युग, मन्वन्तर, कल्प, महाकल्प आदि इकाइयों का वर्णन पुराणों में और स्मृति-ग्रन्थों में अति विस्तार से मिलता है। पुराणों के पांच लक्षणों में मन्वन्तर विभाग के अन्तर्गत इसकी चर्चा आती है। ''पुराणं पञ्चलक्षणम्'' इत्यादि श्लोकों में बताया गया है कि सृष्टि, प्रलय, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित — इन पाँच विषयों का पुराणों में विस्तार से वर्णन किया गया है। मनुस्मृति (१.६४-७३) में संक्षेप में इनका स्वरूप देखा जा सकता है। तदनुसार आजकल श्वेतवाराह कल्प और वैवस्वत मन्वन्तर चल रहा है। सन्ध्यावन्दन आदि सभी नित्य, नैमित्तिक और काम्य कर्मों का अनुष्ठान करते समय देश और काल का संकीर्तन श्रुति, स्मृति, पुराण आदि में प्रदर्शित विधि के अनुसार

किया जाता है। प्रतिवर्ष श्रावणी-उपाकर्म के अवसर किये जाने वाले हेमाद्रि संकल्प में इनका विस्तार देखा जा सकता है।।१७१।।

विद्यातपोबलेनैव मन्दभाग्याश्च ये नराः ।
गुरुसेवां न कुर्वन्ति सत्यं सत्यं वरानने ।।१७२।।

गुरु की महिमा का विस्तार से वर्णन करने के बाद यहाँ बताया गया है कि अभागे मनुष्य अपनी विद्या और तप के बल के अभिमान के कारण गुरु की सेवा नहीं करते। इसका अभिप्राय यह है कि ऐसे भाग्यहीन व्यक्ति व्यर्थ के अभिमान में पड़ कर अपना जीवन नष्ट कर देते हैं। भगवान् शिव देवी पार्वती से कहते हैं कि यह बात पूरी तरह से सच है, अर्थात् मनुष्य जीवन में ऐसे अनेक उदाहरण अनायास मिल जाते हैं।।१७२।।

ब्रह्मविष्णुमहेशाश्च देवर्षिपितृकिन्नराः ।
सिद्धचारणयक्षाश्च अन्येऽपि मुनयो जनाः ।।१७३।।

गुरुभावः परं तीर्थमन्यतीर्थं निरर्थकम् ।
सर्वतीर्थाश्रयं देवि पादाङ्गुष्ठं च वर्तते ।।१७४।।

ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर से, देवर्षि नारद आदि से, पितृगण, किन्नर, सिद्ध, चारण और यक्षगण से तथा अन्य भी ऋषियों-मुनियों से गुरु की महिमा विशिष्ट है। गुरु के प्रति इन सबसे बढकर श्रद्धाभाव रखना ही सर्वश्रेष्ठ तीर्थ है। इसके सामने दूसरे सारे तीर्थ व्यर्थ हैं। यह गुरुपादुका सभी तीर्थों का उसी प्रकार आश्रय है, जैसे पैर का अँगूठा सारे शरीर का आश्रय है।

क्षेमराज ने नेत्रतन्त्र की व्याख्या (७.१-५) में कुलप्रक्रिया के अनुसार सोलह आधारों के नाम गिनाये हैं, जो इस प्रकार हैं — अंगुष्ठ, गुल्फ, जानु, मेढ्र, पायु, कन्द, नाड़ी, जठर, हृदय, कूर्मनाडी, कण्ठ, तालु, भ्रू-मध्य, ललाट, ब्रह्मरन्ध्र और द्वादशान्त। अंगुष्ठ से लेकर द्वादशान्त पर्यन्त इन सोलह आधारों में मूल आधार पादांगुष्ठ को ही माना गया है। प्राणवायु का संचार अंगुष्ठ से लेकर द्वादशान्त पर्यन्त होता है। मानव शरीर में इष्टदेव के आवाहन के लिये किये जाने वाले न्यासों की व्याप्ति भी अंगुष्ठ-पर्यन्त मानी जाती है। जो कुछ ब्रह्माण्ड में है, वह सब मानवदेह में भी विद्यमान है, इस सिद्धान्त के अनुसार अनाश्रित शिव से लेकर कालाग्निरुद्र पर्यन्त २२४ भुवनों की स्थिति भी इसी मनुष्य शरीर में मानी जाती है। तदनुसार कालाग्निरुद्र की स्थिति पादांगुष्ठ में है। शारदातिलक (१.४४-४५) की टीका में निम्न श्लोक उद्धृत है —

आस्यनासिकयोर्मध्ये हृन्मध्ये नाभिमध्यगे ।
प्राणालय इति प्राहुः पादाङ्गुष्ठेऽपि केचन ।।

इसके अनुसार मुख, नासिका, हृदय और नाभि के समान पादांगुष्ठ में भी प्राण का निवास माना गया है। इस प्रकार पादांगुष्ठ जैसे सारे शरीर और प्राण का भी आश्रय है, उसी तरह से गुरुपादुका में भी सारे तीर्थ समाहित हैं ।।१७३-१७४।।

जपेन जयमाप्नोति चानन्तफलमाप्नुयात् ।
हीनकर्म त्यजन् सर्वं स्थानानि चाधमानि च ।।१७५।।

गुरुगीता के जप (पाठ) के महत्त्व को बताते हुए यहाँ कहा गया है कि जप करते समय क्षुद्र कार्यों का और अधम स्थानों का परित्याग करना चाहिये। सभी तरह के हीन (निकृष्ट) कर्मों का और निन्दनीय स्थानों का परित्याग कर जो व्यक्ति इस गुरुगीता रूपी मन्त्र का जप करता है, वह सर्वत्र विजयी होता है और अनन्त फल का भागी होता है, अर्थात् सभी ऐहिक और पारलौकिक इच्छित भोगों को प्राप्त कर ऐसा साधक अन्त में मोक्षपदवी में प्रविष्ट हो जाता है।।१७५।।

जपं हीनासनं कुर्वन् हीनकर्मफलप्रदम् ।
गुरुगीतां प्रयाणे वा संग्रामे रिपुसंकटे ।।१७६।।
जपन् जयमवाप्नोति मरणे मुक्तिदायकम् ।
सर्वकर्म च सर्वत्र गुरुपुत्रस्य सिद्ध्यति ।।१७७।।

गुरुगीता के माहात्म्य के वर्णन के प्रसंग में ही कहा जा रहा है कि हीन, वर्जित आसन पर बैठ कर जप करने से निकृष्ट फल की ही प्राप्ति होती है। अभिप्राय यह है कि वर्जित आसन पर बैठकर जप कभी नहीं करना चाहिये। वर्जित आसनों की चर्चा यहाँ पहले १३७ वें श्लोक में आ चुकी है। जप की महिमा को ही बताते हुए यहाँ कहा जा रहा है कि युद्ध के लिये प्रस्थान करते समय, युद्ध के अवसरों पर शत्रु की भयंकर बाधा के उपस्थित होने पर जो व्यक्ति गुरुगीता का श्रद्धापूर्वक जप करता है, वह अवश्य ही विजयी होता है और मृत्यु का वरण करने पर मुक्ति को प्राप्त करता है। गुरुपुत्र के, अर्थात् गुरु की शरण में गये मनुष्य के सब जगह सारे कार्य अवश्य ही पूर्ण हो जाते हैं।।१७६-१७७।।

इदं रहस्यं नो वाच्यं तवाग्रे कथितं मया ।
सुगोप्यं च प्रयत्नेन मम त्वं च प्रिया त्विति ।।१७८।।

तन्त्रागमशास्त्र में मन्त्र की गोपनीयता पर बहुत जोर दिया जाता है। गुरुगीता के उपदेश के विषय में भी यही बात यहाँ कही जा रही है कि गुरुगीता-संबन्धी इस पूरे रहस्य को बिना सोचे-समझे अपरीक्षित व्यक्ति के सामने नहीं खोलना चाहिये। भगवान् शिव देवी पार्वती से कहते हैं कि तुम मेरी अत्यन्त प्रिय हो, इसलिये तुम्हारे सामने इसे मैंने प्रकट किया है। वास्तव में मनुष्य को प्रयत्नपूर्वक इसे पूरी तरह से गुप्त रखना चाहिये। भाव यह है कि सुयोग्य, सुपरीक्षित शिष्य के सामने ही इसका सारा रहस्य प्रकट करना चाहिये।।१७८।।

स्वामिमुख्यगणेशादिविष्ण्वादीनां च पार्वति ।
मनसापि न वक्तव्यं सत्यं सत्यं वदाम्यहम् ।।१७९।।

मन्त्रोपदेश की गोपनीयता को ही सुदृढ करते हुए भगवान् शिव भगवती से कहते हैं कि कुमार स्कन्द, गणेश आदि अथवा लौकिक राजा आदि अपने स्वामी जैसे प्रमुख व्यक्तियों को और गण (समाज) के सरदारों के जैसे व्यक्तियों को भी बिना सोचे-समझे इसका उपदेश नहीं करना चाहिये। स्कन्द और गणेश जैसे अपने प्रिय पुत्रों को ही नहीं, विष्णु आदि विशिष्ट देवताओं को भी हे पार्वति ! मन से भी इस गुरुगीता रूपी मन्त्र का उपदेश नहीं करना चाहिये, वाणी से उपदेश करना तो बहुत दूर की बात है। भगवान् शिव कहते हैं कि पूरी सचाई और दृढता के साथ यह बात मैं तुम्हें बता रहा हूँ।।१७९।।

अतीव पक्वचित्ताय श्रद्धाभक्तियुताय च ।
प्रवक्तव्यमिदं देवि ममात्माऽसि सदा प्रिये ।।१८०।।

किस प्रकार के व्यक्ति को इसका उपदेश करना चाहिये, यह बताते हुए भगवान् शिव कहते हैं कि हे देवि ! जिस शिष्य का चित्त पूरी तरह से परिपक्व हो गया है और जो साधक गुरु के प्रति श्रद्धा और भक्ति से सम्पन्न है, उसी को इसका उपदेश करना चाहिये। तुम मेरी ही आत्मा हो और सदा प्रिय हो, इसलिये तुम्हे मैं इस विषय में सावधान कर रहा हूँ।।१८०।।

अभक्ते वञ्चके धूर्ते पाषण्डे नास्तिके नरे ।
मनसाऽपि न वक्तव्या गुरुगीता कदाचन ।।१८१।।

अब गुरुगीता का उपदेश कैसे व्यक्ति को नहीं करना चाहिये, इस विषय को स्पष्ट करते हुए यहाँ कहा जा रहा है कि जो व्यक्ति भक्तिभाव से रहित है, वंचक (ठग), धूर्त, पाखंडी और नास्तिक है, उसे गुरुगीता का उपदेश देने का मन से भी संकल्प कभी नहीं करना चाहिये।।१८१।।

संसारसागरसमुद्धरणैकमन्त्रं
ब्रह्मादिदेवमुनिपूजितसिद्धमन्त्रम् ।
दारिद्र्यदुःखभवरोगविनाशमन्त्रं
वन्दे महाभयहरं गुरुराजमन्त्रम् ।।१८२।।

।। इति श्रीस्कन्दपुराणे उत्तरखण्डे ईश्वरपार्वतीसंवादे गुरुगीता समाप्ता ।।

।। श्रीगुरुदेवचरणार्पणमस्तु ।।

गुरुगीता का उपसंहार करते हुए भगवान् शिव इसके प्रति श्रद्धापूर्वक नमन करते हुए कहते हैं कि यह गुरुगीता संसाररूपी सागर के पार पहुँचने का एकमात्र मन्त्र (सहारा) है, ब्रह्मा आदि देवगण और मुनिगणों से पूजित सिद्ध मन्त्र है, संसार रूपी रोग को नाश करने का एक मात्र उपाय है, बड़े-बड़े भय के प्रसंगों को भी दूर कर देने वाला है। गुरुराज के इस गुरुगीता रूपी मन्त्र को मैं श्रद्धा-भक्ति पूर्वक प्रणाम करता हूँ।।१८२।।

इस प्रकार स्कन्दपुराण के उत्तर खण्ड में ईश्वर और पार्वती के संवाद के रूप में पठित यह गुरुगीता समाप्त हुई।। यह श्री गुरुदेव के चरणों में समर्पित हो ।।

❃ ❃ ❃

गुरुपादुकापंचक

श्लोकार्धानुक्रमणी

❋ ❋ ❋

गुरुगीता

श्लोकार्धानुक्रमणी

❋❋❋

ग्रन्थग्रन्थकार - मतमतान्तर

नामानुक्रमणी

❋❋❋

विशेषपद-विवरणी

❃ ❃ ❃

हमारे अन्य प्रकाशित ग्रन्थ